आमुख

पंजाब यूनिवर्सिटी ने सितम्बर १९४८ में 'पब्लिकेशन ब्यूरो' (प्रकाशन विभाग) नामक एक नई शाखा इस उद्देश्य से स्थापित की कि हिन्दी और पंजाबी भाषाओं के साहित्यों को सम्पन्न तथा समृद्धि-शाली बनाने में यूनिवर्सिटी भी समुचित योग दे सके। अतएव ज्ञान, विज्ञान तथा साहित्य सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थों की रचना, अन्यान्य भाषाओं की इस प्रकार की उत्तमोत्तम पुस्तकों के अनुवाद तथा छात्रगणों की शिक्षा के लिए इन विषयों की पुस्तकों का निर्माण अथवा उनका प्रामाणिक रूप में संकलन एवं संशोधन करके सम्पादन—इन सभी विधियों द्वारा उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने का यत्न किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक 'लेख-लतिका' में हिन्दी के प्रारम्भिक छात्रों के लिए कतिपय सरल निबन्धों का संकलन किया गया है। निबन्धों के चुनाव में भाव और भाषा का विशेष ध्यान रखा गया है जिससे आरम्भिक छात्र उन्हें सुगमता से बुद्धिस्थ कर सकें एवं स्वयं सोच-विचार करने की शक्ति में भी यथेष्ट प्रेरणा प्राप्त कर सकें। पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिए लेखकों का संक्षिप्त परिचय और किन्हीं कठिन शब्दों के अर्थ भी दे दिये हैं। आशा है कि पाठक वर्ग इनसे समुचित लाभ उठावेंगे।

'यूनिवर्सिटी प्रकाशन विभाग' की ओर से संपादक और मुद्रक के प्रति सन्तोष प्रकट करता हुआ मैं इस पुस्तक में संकलित सभी लेखकों अथवा उनके उत्तराधिकारियों एवं प्रकाशकों का भी कृतज्ञता-पूर्वक धन्यवाद करता हूं। अपने लेखों को संगृहीत करने की अनुमति देकर उन्होंने न केवल अपने सौजन्य का परिचय दिया है, अपितु इस प्रान्त के विद्यार्थीमंडल को भी हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की सुन्दर रचनाओं के अनुशीलन करने का सौभाग्य प्रदान किया है।

इस पुस्तक को दोष तथा त्रुटि रहित बनाने का यथासंभव पूर्ण यत्न किया गया है। तथापि नितान्त निर्दोषता असंभव है। पाठक-पाठिकाओं से प्रार्थना है कि यदि उन्हें कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो वे कृपया मुझे सूचित करें जिससे अगले संस्करण में उसका उचित संशोधन किया जा सके।

शिमला
सितंबर १९,१९५०

—जगद्बिहारी सेठ, सेक्रेटरी,
यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो

लेख-सूची

प्राक्कथन

हिन्दी के सरल निबन्धों का यह संग्रह हिन्दी के प्रारम्भिक छात्रों के लिए तैयार किया गया है। इसमें हिन्दी-निबन्ध के प्रथम आचार्य पं० बालकृष्ण भट्ट से लेकर आजकल के उदीयमान लेखकों तक का समाहार किया गया है। इस प्रकार यह संग्रह पिछले लगभग एक सौ वर्षों की निबन्ध-प्रगति का प्रतिनिधित्व करता है।

निबन्धों के चुनाव में जहां विषयों की विविधता और उपादेयता का विचार रखा गया है, वहां प्रारम्भिक छात्रों की बौद्धिक क्षमता पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। भाषा का काठिन्य और प्रतिपाद्य विषय का गाम्भीर्य उनकी कोमल ग्राहक-शक्ति के अनुरूप ही रखने का यत्न किया गया है।

लेखों के संकलन में कालानुक्रम का अनुसरण किया है। इसका विशेष लाभ यह है कि इसके द्वारा जहां विषय-भेद और रुचि-वैचित्र्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता, वहां भाषा और भावों के क्रमिक विकास का और लेखकों के परस्पर भाव-सादृश्य और भावों के आदान-प्रदान का भी एक स्पष्ट चित्र मिल जाता है।

लेखकों के सम्बन्ध की साधारण जानकारी 'लेखक-परिचय' में दी गई है और सुकुमारमति छात्रों की सुकरता के लिए, अन्त में, एक 'अर्थावली' भी लगा दी है। पाठकों को अनावश्यक कष्ट से बचाने के लिए मूलपुस्तक में उन सभी शब्दों के साथ तारक *चिह्न लगा दिया है जिनके अर्थ अर्थावली में दिये हैं। छात्रों के बौद्धिक विकास को ध्यान में रखते हुए 'साहित्यिक विवेचन' को स्थान नहीं दिया गया। लेखकों की रचना के अध्ययन को ही विवेक-वृद्धि और भाषा-ज्ञान के लिए पर्याप्त समझा गया है। आशा है यह संग्रह अपने निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति में यथेष्ट सफल सिद्ध होगा।

अन्त में मैं उन सब लेखकों और प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता का प्रकाश करता हूं जिन्होंने अपने निबन्धों को इस संग्रह में सम्मिलित करने की अनुमति देकर हिन्दी के प्रसार में सहयोग प्रदान किया है। वस्तुतः सरस्वती की सेवा के कारण वे सभी सरस्वती-भक्तों के धन्यवाद के पात्र हैं।

पंजाब यूनिवर्सिटी
प्रकाशन विभाग
शिमला
१५-६-५०

—रघुनन्दन

लेख-लतिका

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतल-ध्वनि का कोई मौका है, न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात ही रहती है। हम दो आदमी प्रेम-पूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े। मुसकराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अन्तिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी* बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी ज़िदगी मज़ेदार बनाने के लिए, खाने-पीने, चलने-फिरने आदि की ज़रूरत है वहाँ बातचीत की भी उसको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद* या धुआँ जमा रहता है वह बातचीत के ज़रिये भाप बनकर बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक ख़ास तरह का मज़ा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसन्द आता है पर वे बातचीत का मज़ा नहीं खोया चाहते। राबिंसन क्रूसो* का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे १६ वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरान्त उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनन्द हुआ मानो इसने नये सिरे से फिर से आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी

से बात करने की कितनी लालसा रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे पर प्रकट करना और उनका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों के ही द्वारा हो सकता है। सच है, जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसका गुण-दोष प्रकट नहीं होता। बेन जानसन का यह कहना, कि बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है जहाँ तक उनकी जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन* का मत है कि असल बातचीत सिर्फ़ दो व्यक्तियों में हो सकती है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल एक दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा भी है—'छः कानों में पड़ी बात खुल जाती है'। दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनों अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे।

जैसे गरम दूध और ठंडे पानी के दो बरतन पास सॉट के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है, अर्थात् दूध ठंडा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक-दूसरे को देखें भी नहीं, तब बोलने की कौन कहे। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा, इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के साथ में देखना चाहिए। मानो एक त्रिकोण-सा बन जता है। तीनों चित्त मानो तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानो इस त्रिकोण

की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनों में की गई वह मानो अंगूठी में नग सी जड़ जाती है। उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफ़ी को बिलकुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फ़ार्मेलिटी",* गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई होगी। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते। इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। वे बाबा आदम के समय की ऐसी दास्तान* शुरू करते हैं जिसमें चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अंग्रेज़ी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवानों की निन्दा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर-चूर "हमचुनी दीगरे नेस्त"* अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। दो हमसहेलियों की बातचीत का कुछ ज़ायका ही निराला है। रस का समुद्र मानो उमड़ा चला आ रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रस-सनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

दो बूढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण, बहू-बेटी वाली हुईं तो, अपनी बहुओं या बेटों का गिला-शिकवा होगा या वे बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते अंत में खोढ़े दान्त निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की बातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी-अपनी तारीफ़ करने के बाद

वे कोई सलाह गाँठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी ज़ाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ़ या अपने सहपाठियों में किसी के गुण-औगुण का कथोपकथन होता है। पढ़ने में कोई लड़का तेज़ हुआ तो कभी अपने सामने दूसरे को कुछ न गिनेगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली का-सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा। इसके अलावा बातचीत की और बहुत सी किस्में हैं। राजकाज की बात, व्यापार-सम्बन्धी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की-लड़केवाले की ओर से एक-एक आदमी बिचवई* होकर दोनों के विवाह सम्बन्ध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालों को ज़ाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रस्म बड़े उत्सव के साथ की जाती है। चंडूखाने की बातचीत भी निराली होती है। निदान बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

योरुप के लोगों में बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ़ कनवरसेशन"* यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला-प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद्-गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ़ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रकट हो वरन् क्रम रसाभास पैदा करनेवाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत को अक्रम रखते हैं। वह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बातचीत में,

जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान उनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक-दूसरे को अपने पाण्डित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी-बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े-से-बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किये गए। उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हज़ारों मनुष्यों की उनसे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पच्चीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ-न-कुछ सारगर्भित होगी,—अनुभव और दूरदर्शिता से खाली न होगी और पच्चीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताज़गी रहती है जिसकी मिठास उससे दस गुना चढ़ी-बढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे फ़रीक* के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी-कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके वहाँ गये तो पहले तो बिना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन-माफ़िक बर्ताव न किया गया तो मानों एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिए सबसे

उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रंग दिखाया करती है, वह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है, जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव है? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी न पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक-दो दिन का काम नहीं, बरसों के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ी भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर, अवाक् हो, अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानो अहोभाग्य ! एक वाक्-शक्तिमात्र के दमन से न जाने कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा कतरनी* के समान सदा स्वच्छंद चला करती है, उसे यदि हमने दबाकर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिए अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शान्ति का परम पूज्य मन्दिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

महात्मा गांधी की आत्मकथा

(अनु. श्री महादेव देसाई तथा हरिभाऊ उपाध्याय)

(१) स्कूल में

पोरबन्दर से पिता जी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सदस्य* होकर

जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई सात साल की होगी। राजकोट की देहाती पाठशाला में मैं भरती कराया गया। उन दिनों का मुझे भली-भान्ति स्मरण है। मास्टरों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह वहां की पढ़ाई के सम्बन्ध में कोई ख़ास बात जानने लायक नहीं। मेरी गिनती साधारण श्रेणी के विद्यार्थियों में रही होगी। पाठशाला के ऊपर के स्कूल में और वहां से हाईस्कूल तक पहुँचने में मेरा बारहवां वर्ष बीत गया। तब तक मैंने कभी शिक्षक आदि से झूठ बोला हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। न किसी को दोस्त बनाने का स्मरण है। मैं बहुत संकोची* लड़का था; मदरसे में अपने काम से काम रखता। घंटी बजते-बजते पहुँच जाता और स्कूल बन्द होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग जान बूझ कर किया है; क्योंकि मुझे किसी के साथ बातें करना नहीं रुचता था—मुझे यह डर भी बना रहता था कि कोई मेरा मज़ाक न उड़ावे।

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की परीक्षा के समय की एक घटना उल्लेखनीय* है। शिक्षा-विभाग के इंस्पैक्टर, जाइल्स साहब, मुआइने* के लिए आये। उन्होंने पहले दरजे* के विद्यार्थियों को पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था—'केटल' (Kettle)। उसके हिज्जे मैंने ग़लत लिखे। मास्टर ने मुझे अपने बूट से ठोकर देकर चेताया; पर मैं कहां समझने वाला था? मेरे दिमाग़ में यह बात नहीं आई कि मास्टर साहब मुझे सामने के लड़के की स्लेट देखकर हिज्जे दुरुस्त करने का इशारा कर रहे हैं। मैंने यह मान रखा था कि मास्टर तो इसलिए तैनात* हैं कि कोई लड़का दूसरे की नकल न कर सके। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, अकेला मैं ही बेवकूफ़ बच गया। मेरी बेवकूफ़ी बाद को मास्टर ने बतलाई। पर मेरे मन

पर उस का कोई असर न हुआ। मुझे दूसरे लड़कों से नकल करना कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर साहब के प्रति मेरा आदर कभी न घटा। बूढ़ों के दोष न देखने का गुण मुझ में स्वाभाविक था। बाद को तो इन मास्टर साहब के दूसरे दोष भी मेरी नज़र में आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर ज्यों-का-त्यों कायम* रहा। मैं इतना जानता था कि बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, जो वे कहें करना चाहिए, वे जो कुछ करें, उसका काज़ी* हमें न बनना चाहिए।

इसी बीच दूसरी दो घटनाएँ हुईं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढ़ने का शौक न था। सबक* पूरा करना चाहिए, डाट सही नहीं जाती थी, मास्टर से छल-कपट करना नहीं था, इन कारणों से मैं सबक पढ़ता, पर मन न लगा करता। इससे सबक बहुत बार कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी पुस्तक पढ़ने को जी कैसे चाहता? परन्तु पिता जी की ख़रीदी एक पुस्तक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटक पर मेरी नज़र पड़ी। इसे पढ़ने को दिल चाहा। बड़े अनुराग और चाव से मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों काठ के बक्स में शीशों से तस्वीर दिखाने वाले भी फिरा करते। उनमें मैंने श्रवण का अपने माता-पिता को कांवर* में बैठा कर यात्रा के लिए लेजाने वाला चित्र देखा। दोनों चीज़ों का मुझ पर गहरा असर पड़ा। मन में श्रवण के समान होने के विचार उठते। श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता का विलाप मुझे अब भी याद है। उस ललित छन्द को मैंने बजाना सीख लिया था। मुझे बाजा सीखने का शौक था और पिता जी ने एक बाजा ला भी दिया था।

इसी समय कोई नाटक-कंपनी आई और

नाटक देखने की छुट्टी मिली। इसमें हरिश्चन्द्र की कथा थी। यह नाटक देखने से मेरी तृप्ति नहीं होती थी। बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता, पर बार-बार जाने कौन देता ? पर अपने मन में मैंने हरिश्चन्द्र का नाटक सैकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आया करते। यही धुन लगी कि हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों ? यही धारणा* होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियां भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रखा था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उस पर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्र के दुःखों को देख कर और उन्हें याद करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक* व्यक्ति न हो, पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूँ तो आँसू आये बिना न रहें।

(२) हाई स्कूल में

जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। हाई स्कूल में मैं मन्द-बुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया था। हर साल माता-पिता को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। इनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दरजे के बाद इनाम भी पाये और पांचवें तथा छठे दरजे में तो क्रमशः ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियां* भी मिली थीं। इस सफलता में मेरी योग्यता की अपेक्षा भाग्य का ज्यादा जोर था। ये छात्रवृत्तियां सब लड़कों के लिए नहीं, सौराष्ट्र प्रान्त* के विद्यार्थियों के ही लिए थीं और उस समय चालीस-पचास

विद्यार्थियों के दरजे में सौराष्ट्र काठियावाड़ के विद्यार्थी हो ही कितने सकते थे ?

मेरी याद के अनुसार अपनी होशियारी पर मुझे नाज़ न था। इनाम अथवा छात्र-वृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परन्तु हां, अपने चरित्र का मुझे बड़ा ख़याल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रुलाई आजाती। यह मेरे लिए बर्दाश्त से बाहर था कि मेरे हाथों कोई ऐसी बात हो कि शिक्षक को शिकायत का मौका मिले या वह मन में भी ऐसा सोचें। मुझे याद है कि एक बार मार खानी पड़ी थी; उसमें मार खाने का तो दुःख न था, पर इस बात का बड़ा पछतावा था कि मैं दंड का पात्र* समझा गया। मैं खूब रोया। यह घटना पहले या दूसरे दरजे की है। दूसरा प्रसंग सातवें दरजे का है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह कड़ा अनुशासन* रखते थे, फिर भी विद्यार्थियों में प्रिय थे। वह बाकायदा काम करते और काम लेते, और पढ़ाते भी अच्छा थे। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत,* क्रिकेट, अनिवार्य* कर दी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। अनिवार्य होने के पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी जाता ही न था। न जाने में मेरा संकोची स्वभाव भी एक कारण था। अब मैं देखता हूँ कि कसरत की यह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे ग़लत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। बाद में समझ में आया कि विद्याभ्यास में व्यायाम का अर्थात् शारीरिक शिक्षा का मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिए। फिर भी मैं कहना चाहता हूँ कि कसरत में न जाने से हानि न हुई। कारण, मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घूमने की सिफ़ारिश पढ़ी थी। यह मुझे पसंद आई और तभी से **घूमने जाने**

की आदत मुझे पड़ गई, जो अब तक है। घूमना भी व्यायाम तो है ही; और इससे मेरा शरीर ठीक-ठीक गठीला हो गया।

व्यायाम की जगह घूमना जारी रखने की वजह से शरीर से कसरत न करने की भूल के लिए तो मुझे सज़ा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक भूल की सज़ा मैं आज तक भोग रहा हूँ। पता नहीं कहां से, यह ग़लत ख़याल मुझे मिल गया था कि पढ़ाई में सुलेख* की ज़रूरत नहीं है। यह विलायत जाने तक बना रहा। बाद में तो मैं पछताया और शरमाया। मैंने समझा कि अक्षरों का ख़राब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। अतः हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरण से सबक ले और समझे कि सुन्दर अक्षर शिक्षा का आवश्यक अंग है।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें लिखने-जैसी हैं। चौथे दरजे से कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेज़ी में दी जाती थी, पर मैं कुछ समझ ही नहीं पाता था। रेखागणित में मैं यों भी पीछे था, और फिर अंग्रेज़ी में पढ़ाये जाने के कारण और भी समझ में न आता था। शिक्षक समझाते तो अच्छा थे; पर मेरी समझ में न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। परिश्रम करते-करते जब रेखागणित की तेरहवीं शक्ल पहुँची, तब मुझे एकाएक लगा कि रेखागणित तो सब से आसान विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है? उसके बाद से रेखागणित मेरे लिए सहज और मज़ेदार विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी, परन्तु संस्कृत में मेरी दृष्टि से अधिक काम रटने का ही था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख़्त थे। विद्या-

र्थियों को बहुतेरा पढ़ा देने का उन्हें लोभ था। संस्कृत और फ़ारसी के दरजे में एक प्रकार की होड़-सी* लगी रहती थी। फ़ारसी के मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी आपस में बातें करते कि फ़ारसी तो बहुत सरल है, फ़ारसी के अध्यापक भी बड़े मुलायम हैं। विद्यार्थी जितना काम कर लाते हैं, उतने से ही वे निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं भी ललचाया और एक दिन फ़ारसी के दरजे में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ और उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—"तुम सोचो तो कि तुम किस के लड़के हो ? अपनी धार्मिक भाषा न सीखोगे ? अपनी कठिनाई मुझे बताओ। मेरी तो इच्छा रहती है कि सब विद्यार्थी अच्छी संस्कृत सीखें। आगे चल कर उसमें रस-ही-रस मिलेगा। तुम को इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरे दरजे में आजाओ"।

मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना* न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णाशङ्कर पण्ड्या की कृतज्ञ है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत शास्त्रों का जो रसास्वादन कर पाता हूँ वह न कर पाता। बल्कि अधिक संस्कृत न पढ़ सका, इसका पछतावा होता है। क्योंकि आगे चल कर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-बालक को संस्कृत के अध्ययन* से वंचित नहीं रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण-क्रम में अपनी भाषा के अलावा राष्ट्र-भाषा हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी को स्थान मिलना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिनती से किसी को घबराने की ज़रूरत नहीं। यदि भाषाएँ ढंग से सिखाई जायँ और सब विषय अंग्रेज़ी के द्वारा ही पढ़ने, समझने का बोझ हम पर न हो तो उपर्युक्त* भाषाओं

तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त* होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसंपन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रम-पूर्वक, बड़े उत्साह से, साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडम्बर का विसर्जन* कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ-की-कुछ कर दी है; शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरुप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है। जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है। पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता* को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता* का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली* का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी ज़िंदा करने वाली संजीवनी

ओषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किं बहुना, वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसे जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंग्रेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उसके साहित्य का उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलने वाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन* को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इङ्गलैण्ड चिरकाल तक फ्रेंच और लेटिन भाषाओं के माया-जाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ांत ज्ञान

जानवरों में मानसिक व्यापार के कोई चिन्ह नहीं देख पड़ते। किसी आंतरिक प्रवृत्ति, उत्तेजना या शक्ति की प्रेरणा से ही वे सब शारीरिक व्यापार करते हैं। किसी मतलब से कोई काम करना बिना ज्ञान के—बिना बुद्धि के—नहीं हो सकता। ज्ञान दो तरह का है—स्वाभाविक* और उपार्जित।* स्वाभाविक पशुओं में और उपार्जित मनुष्यों में होता है। हम सब काम सोच-समझ कर जैसा करते हैं, जानवर वैसा नहीं करते। उनमें विचार-शक्ति ही नहीं है; उनके मन में विचारों के रहने की जगह ही नहीं; क्योंकि वे बोल नहीं सकते। ठीक-ठीक विचारणा या भावना बिना भाषा के नहीं हो सकती। भाषा ही विचार की जननी है। भाषा ही से विचार पैदा होते हैं। वाणी और अर्थ का योग सिद्ध ही है। शब्दों से अर्थ या विचार उसी तरह अलग नहीं हो सकते, जैसे पदार्थों के आकार उनसे अलग नहीं हो सकते। जहां आकार देख पड़ता है, वहां पदार्थ ज़रूर होता है। जहाँ विचार होता है, वहाँ भाषा ज़रूर होती है। बिना भाषा के विषय-ज्ञान और विषय-प्रवृत्ति इत्यादि-इत्यादि बातें हो सकती हैं, परन्तु विचार नहीं हो सकता। पशु अपनी इंद्रियों की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो पदार्थ समय और आकाश में विद्यमान रहते हैं, सिर्फ़ उन्हीं का ज्ञान पशुओं को इन्द्रियों से होता है, और पदार्थों का नहीं। पशुओं में स्मरण-शक्ति नहीं होती, पुरानी बातें उन्हें याद नहीं रहतीं। यही पूर्वोक्त साहब का मत है।

इनमें से बहुत-सी बातों का खंडन हो सकता है। कुछ का खंडन लोगों ने किया भी है। विचार क्या चीज़ है? सोचना किसे कहते हैं? सिर में एक प्रकार के ज्ञान-तंतु हैं। बाहरी जगत की किसी चीज़ या शक्ति का प्रतिबिंब-रूपी ठप्पा, जो उन तंतुओं पर उठ आता है, उसी का नाम विचार है। जितने

प्रकार के शब्द सुन पड़ते हैं, उनकी तसवीर सिर के भीतर तंतुओं पर खिंच-सी जाती है। यह तसवीर मिटाए नहीं मिटती। कारण उपस्थित होते ही वह नई होकर ज्ञान-ग्राहिका शक्ति के सामने आ जाती है। यह कहना ग़लत है कि बिना भाषा के विचार नहीं हो सकता। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे शायद उन शब्द-समूहों को भाषा कहते हैं जो वर्ण-रूपी चिह्नों से बने हैं। पर क्या कोई इंजीनियर या मिस्त्री एक बड़े-से-बड़े मकान या मीनार की कल्पना, बिना ईंट, पत्थर और चूने इत्यादि का नाम लिये भी, नहीं कर सकता ? क्या ज्यामिति-शास्त्र* के पंडित को अपना मतलब सिद्ध करने के लिए वर्ण-रूपिणी भाषा की कुछ भी ज़रूरत पड़ती है ? अथवा क्या बहरे और गूंगे आदमी ज्ञान-तंतुओं पर चित्रित चित्रों की सहायता से भावना, कल्पना, विचार या स्मरण नहीं करते ?

फिर विचार की बड़ी ज़रूरत भी नहीं देख पड़ती। क्या बिना विचारणा के काम नहीं चल सकता ? सच पूछिए, तो जगत् में बहुत कम विचारणा होती है। हरबर्ट स्पेंसर तक के बड़े-बड़े ग्रंथ विचारणा के बल पर नहीं लिखे गये। स्पेंसर ने अपने आत्म-चरित में ऐसा ही लिखा है। उसका कथन है कि मैंने उन्हें अपनी प्रतिभा के बल से लिखा है। मेरे मन में आप-ही-आप उनको लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसी ने मुझसे उन्हें लिखाया। दुनिया में जितने बड़े-बड़े ग्रंथ देख पड़ते हैं, उनमें बहुत-से ऐसे हैं, जिनको उनके लिखने वालों ने अपने मस्तिष्क, अपने मन, अपनी प्रतिभा की प्रेरणा से ही लिखा है। जिस तरह मेदे के द्वारा पाचन-क्रिया होने से खून और पित्त पैदा होता है; जिस तरह प्रजोत्पादक अंगों के द्वारा प्रजा की उत्पत्ति होती है; उसी तरह बड़े-बड़े आदमियों के प्रतिभा-पूर्ण मस्तकों से कविता, किताबें और इमारतों की कल्पनाएँ निकलती हैं।

कालिदास ने रघुवंश लिखा और भवभूति ने उत्तरराम-चरित। पर किस तरह उनके मन में इनको लिखने की बात आई? आप-ही-आप। विचार करने की ज़रूरत नहीं पड़ी। पहले-पहल उनके मस्तिष्क में इनको लिखने की इच्छा स्वतः संभूत* हुई। संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं हुआ, जिसने अपनी इच्छा से कोई ऐसा काम किया हो, जिसका या जिस की सामग्री का अस्तित्त्व पहले ही से विद्यमान न रहा हो।

यदि कोई जानवर कोई काम किसी इरादे से करे, और जिस ज्ञानात्मिका बुद्धि से वह इरादा पैदा हुआ हो, वह बुद्धि स्वाभाविक हो तो उससे क्या? उससे कोई नया सिद्धांत नहीं निकलता। चाहे वह स्वाभाविक हो, चाहे उपार्जित—बात वही रहती है। उससे ज्ञान का न होना—बुद्धि का न होना—नहीं साबित होता। ज्ञान चाहे जिस प्रकार का हो, वह है तो। ताजमहल की कल्पना करनेवाले में भी ज्ञान था, और घोंसला या ग़ार बनानेवाले जीवों में भी वह है। किसी में कम, किसी में ज़्यादा। मकड़ी, चिड़ियाँ, लोमड़ी और चींटी इत्यादि छोटे-छोटे जीव तक अपने-अपने काम से ज्ञान रखने का प्रमाण देते हैं, और ज्ञान मन का व्यापार है। मन से ज्ञान का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि जानवरों में मानसिक विचार की शक्ति नहीं है?

जो कुछ हम सोचते या करते हैं, वह इंद्रियों पर उठे हुए चित्र का कारण नहीं है। उसका कारण ज्ञान है। एक किताब या कुर्सी की तसवीर मक्खी की इन्द्रियों पर भी वैसी ही खिंचेगी, जैसी पालने पर पड़े हुए छोटे बालक की इन्द्रियों पर। पर जिसमें जितना ज्ञान होता है, जिसमें जितनी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार सांसारिक पदार्थों या शक्तियों की ज्ञानगत मूर्तियों का महत्त्व, न्यूनाधिक भाव में, सब कहीं देख

पड़ता है। जिस भाव से हम एक किताब को देखेंगे, भैंस उस भाव से उसे न देखेगी। पर देखेगी ज़रूर, और उसका चित्र भी उसकी ज्ञानेंद्रियों पर ठीक वैसा ही उतरेगा, जैसा आदमियों की इन्द्रियों पर उतरता है।

इसमें संदेह नहीं कि सोचना या विचार करना—चाहे वह ज्ञानात्मक हो, चाहे न हो—मस्तिष्क की क्रिया है। अतएव उसका संबंध मन से है। और, आदमी से लेकर चींटी तक, सब जीवधारियों में, अपनी-अपनी स्थिति और आवश्यकता के अनुसार, मन होता है। यह नहीं कि किसी में वह बिल्कुल ही न होता हो। इस से यह सिद्ध है कि जिस सिद्धांत का उल्लेख ऊपर हुआ, वह ठीक नहीं।

कर्तव्य और सत्यता

(श्री डा० श्यामसुन्दरदास)

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परम धर्म है और जिस के न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते हैं और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में कर्तव्य का करना बिना दबाव से नहीं हो सकता, क्योंकि पहले-पहल मन आप ही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरंभ पहले घर से ही होता है; क्योंकि यहाँ लड़कों का कर्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्री-पुरुष के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ौसियों, और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्यों को देखते हैं। इसलिए संसार में मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से

भरा पड़ा है, जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस इसी कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है, और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुःखी होता है। लड़को! तुमने बहुधा देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैं ने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कह कर खाना था। इसी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुरा कर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें। परन्तु जब हम चोरी कर बैठते हैं तब हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा, पर इससे तुम साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठगविद्या और असत्यपरता से धनाढ्य हो गये और तुम कंगाल ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी करके बड़ी-बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें

कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य-धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़कर संतोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों से व्यग्र* रहता है। हम लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इस लिए हम लोगों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी इसके पथ पर से न हटें, चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिंता नहीं।

धर्म-पालन करने के मार्ग में सब से अधिक बाधा चित्त की चंचलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता* रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अंत में यदि उस का मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मान कर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा* में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे, बिना अपना स्वार्थ सोचे, झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते-करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तब फिर किसी बात का भय न रहेगा। देखो, इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गये हैं, जिन्होंने संसार का उपकार किया है और उसके लिए आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य को सब से श्रेष्ठ माना है, क्योंकि

जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान दे कर न्याय का वर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अंग्रेजी जहाज़ में, जब वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा-पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं सब नावों पर चढ़ा कर विदा कर दी गई, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों-के-त्यों खड़े रहे, उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसी लिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इस के विरुद्ध फ्रांस देश के रहने वालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाये किंतु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निंदा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और

वचनों में सत्यता का वर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी के घर सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिए हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी वर्ताव न करना चाहिए। अतएव सत्यता को सब से ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं, झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता* और कायरता* के कारण होती है। बहुत से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रुद्ध न होना चाहिए जब उनके नौकर भी उनसे अपने लिए झूठ बोलें।

बहुत से लोग नीति और आवश्यकता के बहाने झूठ की रक्षा करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बनाकर कहना, नीति के अनुसार, समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी बात को सत्य-सत्य कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा-फिरा कर कहते हैं कि जिससे सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उल्टा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार कम नहीं।

संसार में बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में ही अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपा कर धोखा देने या झूठ बोलकर अपने को **बचा लेने**

में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट न बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेस बदलना, झूठ-मूठ कहना, दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य न बोलना इत्यादि। जबकि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब यह सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह-देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वही काम हैं, जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सब को मूर्ख बना कर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडंबर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेस का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संतोष और आनंद होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य पालन कर सकता है।

इसलिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान* हो सकेगा; और हम आनंद-पूर्वक अपना समय बिता सकेंगे; क्योंकि सच्चे को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा संतुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

आकाश-गंगा

(श्री पं० रामदास गौड़ एम० ए०)

तारों-भरी रात के स्वच्छ नीले आकाश की शोभा किस ने नहीं देखी है ? यह नित्य का एक ही प्रकार का मनोमोहक दृश्य जगत् के जन्म से आज तक मनुष्य देखता आया है; परन्तु उसका जी उससे कभी नहीं ऊबा। इस दृश्य को देख-देख कर परम मूर्ख से लेकर उद्भट* विद्वान् तक आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। ज्योतिषी अपनी दूरगामी दृष्टि से बहुत कुछ थाह लगाने की कोशिश करते आये। वर्तमान युग में बड़े-से-बड़े और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यंत्रों से काम लेकर भी उन्हें एक ही बात मालूम हुई कि विश्व अनादि और अनंत है, उसकी सब बातों को जानना हमारी शक्ति के बाहर है। इस में शक नहीं कि उन्होंने यंत्रों के सहारे अधिकाधिक जाना, पर साथ-ही-साथ उनके अज्ञान की परिधि* उनकी जानकारी की अपेक्षा अधिकाधिक विस्तीर्ण* होती गई। उन्होंने विशेष रूप से यह जान पाया कि

में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट न बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेस बदलना, झूठ-मूठ कहना, दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य न बोलना इत्यादि। जबकि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब यह सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह-देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वही काम हैं, जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सब को मूर्ख बना कर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडंबर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेस का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संतोष और आनंद होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य पालन कर सकता है।

इसलिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान* हो सकेगा; और हम आनंद-पूर्वक अपना समय बिता सकेंगे; क्योंकि सच्चे को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा संतुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

आकाश-गंगा

(श्री पं० रामदास गौड़ एम० ए०)

तारों-भरी रात के स्वच्छ नीले आकाश की शोभा किस ने नहीं देखी है ? यह नित्य का एक ही प्रकार का मनोमोहक दृश्य जगत् के जन्म से आज तक मनुष्य देखता आया है; परन्तु उसका जी उससे कभी नहीं ऊबा। इस दृश्य को देख-देख कर परम मूर्ख से लेकर उद्भट* विद्वान् तक आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। ज्योतिषी अपनी दूरगामी दृष्टि से बहुत कुछ थाह लगाने की कोशिश करते आये। वर्तमान युग में बड़े-से-बड़े और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यंत्रों से काम लेकर भी उन्हें एक ही बात मालूम हुई कि विश्व अनादि और अनंत है, उसकी सब बातों को जानना हमारी शक्ति के बाहर है। इस में शक नहीं कि उन्होंने यंत्रों के सहारे अधिकाधिक जाना, पर साथ-ही-साथ उनके अज्ञान की परिधि* उनकी जानकारी की अपेक्षा अधिकाधिक विस्तीर्ण* होती गई। उन्होंने विशेष रूप से यह जान पाया कि

हमने जो कुछ जाना है, वह हमारी अनंत बेजानी हुई बातों के सामने शून्य की बराबरी भी नहीं रखता।

इसी अनंत आकाश-मंडल के दृश्यों में से सब से अद्भुत और विस्मयकारी* दृश्य "आकाश-गंगा" है। इसे बहुत से लोग "डहर" कहते हैं। अंग्रेजी में इसका नाम क्षीरायण (मिल्की वे) है। देखने में यह गिरा हुआ दूध-सा लगता है, जिसमें असंख्य तारे प्राचुर्य से पड़े हुए हैं और धारा के किनारे-किनारे छिटके हैं। धारा से तारे जितने ही दूर होते हैं, उतने ही विरल दिखाई देते हैं। यह आकाश-गंगा टेढ़ी-मेढ़ी होकर बही है। इसका प्रवाह उत्तर की ओर से लेकर दक्खिन की ओर गया है। परन्तु आकाश-गंगा देखने में दो धाराओं में गई हुई जान पड़ती है। एक तो रात्रि के प्रथम प्रहर में और दूसरी अन्तिम प्रहर में। दूसरी धारा ईशान* से नैर्ऋत्य* कोण की ओर जाती है। उसकी दिशा पहली से नहीं मिलती। परन्तु ज्योतिषियों ने इसका पूरा विचार करके निर्णय किया है कि वास्तव में आकाश-गंगा एक ही है, दक्षिण-उत्तर होकर आकाश के दोनों कटाह में प्राय: गोलाकार घूम गई है और पृथ्वी के घूमते रहने से उसका एक खंड एक बार और दूसरा खंड दूसरी बार दिखाई पड़ता है। इन्हीं खण्डों में आकाश-मण्डल में हमको दिखाई देनेवाले अधिकांश तारे स्थित हैं।

देखने में तो अनंत तारे परस्पर सटे-से जान पड़ते हैं, परन्तु यह दृष्टिभ्रम है। आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने पता लगाया है कि इनमें एक-दूसरे की दूरी अरबों मीलों की हो सकती है; और हमारी तो इनसे इतने मीलों की दूरी है कि उतनी संख्या लिखने में भी नहीं आ सकती। जिन तारों की दूरी ऐसी संख्यातीत है, फिर शब्दों में उसे व्यक्त करने का भी कुछ उपाय है? हाँ, वैज्ञानिकों ने उसके लिए एक युक्ति निकाली

है। भौतिक विज्ञानवालों ने रश्मि-मापक यंत्र के द्वारा यह पता लगाया कि प्रकाश का वेग एक सैकंड में एक लाख ८६ हज़ार मील है; अर्थात् सूर्य से जो प्रकाश हमारे पास लगभग सवा नौ करोड़ मील चलकर आता है, वह प्रति सैकंड १ लाख ८६ हज़ार मील के वेग से चलकर आता है। इस यात्रा में इसी लिए उसे आठ मिनटों से कुछ अधिक लगते हैं। अब हम सूर्य की दूरी सवा नौ करोड़ मील न कहकर सवा आठ प्रकाश-मिनट कहें, तो भी कुछ समझ में आने का आधार मिल जाता है। कहने में लाघव भी होता है। अब मान लीजिए कि किसी तारे की दूरी ऐसी हो कि उससे प्रकाश के आने में आठ मिनटों के बदले आठ घंटे लगते हों या आठ दिन लगते हों या आठ महीने लगते हों या आठ वर्ष ही लगते हों, तो हम सहज में उनकी दूरी के परिमाण को प्रकाश के आठ घंटों, दिनों, मासों या वर्षों में व्यक्त कर सकते हैं। आठ वर्षों में जिस तारे से प्रकाश आता है उसकी दूरी हमसे पौने पांच नील मीलों के लगभग होगी। परंतु जहां से आठ हज़ार वर्षों में प्रकाश आता होगा, वहाँ की दूरी हमसे पौने सैंतालीस पद्म मीलों के लग-भग होगी! परन्तु तारे तो इतनी दूरी पर हैं कि उनसे प्रकाश के आने में लाखों बरसों का समय लग सकता है। ऐसी अवस्था में न तो मीलों की गिनती में उसे ला सकते हैं और न कुछ समय में ही आ सकता है।

जिस आकाश के भीतर अनंत दूरी है, वह अनंत देश है। जिस विश्व में नित्य ब्रह्मांडों की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय की कहानी दुहराई जाती है, उसके महाप्रलय या महोत्पत्ति का काल क्या है, यह अचिंत्य है, अनंत है। फिर विश्व भी एक दो हों, तो कुछ कहा जाय। विश्व भी तो अनन्त हैं। उनका आदि न जानने से हम उन्हें अनादि कह सकते हैं। फिर मध्य का निर्णय किस

परिमाण से हो ? अर्थात् यह विश्व-विराट् अवश्य ही देश और काल से अतीत और अपरिमित* है। अब विश्वों और ब्रह्मांडों की पुराणवत् नई कथा सुनिए।

आकाश-गंगा के तारे इतनी दूरी पर हैं कि उनकी दूरी प्रकाश-वर्षों से भी गिनना कठिन है। उनकी आपस की दूरी भी ऐसी ही भयानक है। जब सटे हुए तारों की यह दशा है, तब उन तारों की चर्चा ही क्या है जो आकाश-गंगा के बाहर दूर-दूर पर स्थित हैं। आधुनिक ज्योतिर्विद् कहते हैं कि आकाश-गंगा एक विश्व है, जिसमें असंख्य ब्रह्मांड हैं; और हर एक टिमटिमाता तारा अपने-अपने ब्रह्मांड का नायक सूर्य है। हम जो छोटे-छोटे तारे देखते हैं, वे वास्तव में बड़े सूर्य हैं जिनमें से अनेकानेक इतने बड़े हैं कि जिनके सामने हमारे सूर्य का महा-पिंड एक रेणु के बराबर भी नहीं ठहरता। हम इस तरह असंख्य ब्रह्मांडों के नायकों के दर्शन करते हैं। हमारे ब्रह्मांड की स्थिति इसी आकाश-गंगा के मध्य आकाश में है।

देखने में हमारा सूर्य लुब्धक* है; अगस्त्य, अग्नि आदि अनेक तारे आकाश-गंगा से दूर जान पड़ते हैं, परंतु कोई आश्चर्य की बात न होगी; यदि वे सभी स्वतन्त्र तारे आकाश-गंगा के ही अन्तर्गत हों, परन्तु हमारी स्थिति के कारण ही ये आकाश-गंगा से पृथक्-से लगते हैं। हमारा ब्रह्मांड तो आकाश-गंगा के मध्य में ही कहीं अनुमित होता है।

बिलकुल स्वच्छ नीले आकाश में जैसे दूध-सी फैली हुई सफ़ेदी आकाश-गंगा में है, वैसे ही दूध-से धब्बे कहीं-कहीं और दिखाई देते हैं। दूरबीन से देखने पर तो इस अनंत आकाश में ऐसे हज़ारों-लाखों दुधिया तारा-मंडल मिलते हैं, जिनका आकार कुण्डली-सा फिरा हुआ लगता है। ज्योतिषियों ने इनका नाम "नीहारिका" रखा है। ये नीहारिकाएँ अनंत और कल्पनातीत*

दूरी पर हैं। कहा जाता है कि हमारी आकाश-गंगा भी ऐसी ही एक नीहारिका है। नीहारिकाएँ कुंडली के आकार की होती हैं। यह आकाश-गंगा कुंडली के आकार की है। हमारा ब्रह्मांड किसी ऐसे देश में है, जहाँ से कुंडली के दोनों ओर का भाग घूमा हुआ है, इसीलिए हमें दो आकाश-गंगाएँ दिखाई देती हैं। जिन नीहारिकाओं को हम आकाश-गंगा से दूर, बहुत छोटे आकार में देखते हैं, बहुत संभव है कि उनका विस्तार और 'आयतन' हमारी आकाश-गंगा से भी अधिक हो। वर्तमान ज्योतिर्विदों का अनुमान है कि एक-एक नीहारिका एक-एक विश्व है, जिसके अन्तर्गत अनन्त ब्रह्मांड हैं। दूरवीक्षण यंत्र से इस तरह की अनेक नीहारिकाएँ देखने में आई हैं, जो एक-दूसरी की आड़ में छिपी हैं। अतः दूरबीन के सहारे हम हज़ारों लाखों विश्वों के दर्शन कर सकते हैं। परन्तु दूरबीन की शक्ति भी परिमित है। ऐसा अनुमान हो सकता है कि इन विश्वों के सिवा असंख्य विश्व होंगे ! और हर एक में असंख्य ब्रह्मांड !! हम आकाश मंडल में जो इतनी नीहारिकाएँ दूर-दूर पर देखते हैं, उनमें वास्तव में आकाश-गंगा वाले विश्व के भीतर से, अनंत देश के असीम झरोखों से, अपने विश्व की सीमा के बाहर अनंत असीम आकाश-देश में स्थित और विश्वों के दर्शन करते हैं। इसी से हमें ये थोड़े से विश्व, थोड़ी-सी नीहारिकाएँ दिखाई देती हैं। यदि इस विश्व के महा-मंदिर से बाहर निकलकर अपरिछिन्न* दृष्टि से देखने का साधन उपलब्ध होता, तो हम अनन्त विश्वों के दर्शन कर सकते, और तब हमारी आकाश-गंगा, जो समस्त व्योम-मण्डल को घेरे हुए जान पड़ती है, एक मेघ-बिन्दु के समान दिखाई पड़ती। और यदि ऐसा संभव होता कि हम दो नीहारिकाओं या विश्वों के अनंत अंतराल देश में अपने को स्थित पाते, तो उस समय

आकाश का दृश्य हमारे लिए नितांत भिन्न होता। आकाश में एक भी आकाश-गंगा न दिखाई देती। जो नक्षत्र जिस प्रकार आज हम देखते हैं, वे तो शायद कहीं देख न पड़ते या असंख्य नीहारिकाओं के नीहार में छिप जाते। साथ ही अनेक नये जाज्वल्यमान नक्षत्र और तारे नये-नये स्थानों में दिखाई पड़ते। इनमें हमें अपने सूर्य-चन्द्रमा भी ढूँढे न मिलते।

ऐसी अद्भुत अनंतता, विचित्र अनादिता और विस्मयकारी अमध्यता जिस विराट् पुरुष के अन्दर है, उसके "पादोऽस्य विश्वा भूतानि"*—एक चौथाई में ही सारे विश्वों की सृष्टि है !!!

हमारी आकाश-गंगा भी ऐसी ही एक नीहारिका है, जिसमें हमारे जैसे असंख्य ब्रह्मांड हैं। अनेक बन चुके हैं, अनेक बन रहे हैं; अनेक भविष्य के गर्भ में निहित हैं। हमारे ब्रह्मांड में भी अनेक ग्रह हैं जो हमारी पृथ्वी-सरीखे बड़े-बड़े पिंड हैं। कई संसार-रचना की तैयारी में हैं, कई के संसार संसरण* कर रहे हैं, कई के संसार अपनी पूर्णायु भोगकर अपनी यात्रा की सीमा की ओर चल रहे हैं और कई उसी सीमा पर पहुँचकर यात्रा पूरी कर चुके हैं। हमारी धरती ने अभी अपना जीवन आरंभ किया है। अनेक वैज्ञानिकों के मत से इसके जीवनमय जीवन को कुछ ऊपर दो करोड़ वरस हुए होंगे। हिंदुओं का भी ऐसा ही मत है। वे कहते हैं कि श्वेत वाराह कल्प का यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है, जिसके केवल पाँच हजार इकत्तीस वरस बीते हैं। इस हिसाब से भी दो करोड़ से कुछ ऊपर वरस बीत चुके हैं।

हमारी गणना केवल यहीं नहीं मेल खाती; सभी जगह हमारी पौराणिक संख्याएँ वैज्ञानिक संख्याओं से मेल खाती हैं। इतना ही नहीं, विश्व की सृष्टि के सिद्धांत भी मिलते हैं। कथाओं पर विचार करने से अद्भुत मेल मिलता है। क्षीर-सागर,

शेष-शय्या, महालक्ष्मी-नारायण का शयन, कमल का उद्भव, ब्रह्मा की उत्पत्ति, मधुकैटभ का युद्ध, मेदिनी-निर्माण, मंगल की उत्पत्ति इत्यादि कथाओं का एक बहुत ही विचित्र समन्वय* होता है।

मज़दूरी और प्रेम

(श्री प्रो० पूर्णसिंह एम. एस-सी.)

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला* है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफ़ेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग़ के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण ज़मीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान हैं।

दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार* का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में-से सूर्य और चंद्रमा छन-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों का

करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी किसान के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लंगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिये हुए गौओं का मित्र, वैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज,* महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर विठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली* जा रहा है।

एक वार मैंने एक बुड्ढे गडरिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफ़ेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किये कोमल-कोमल पत्तियां खा रही हैं। गडरिया वैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। वाल उसके सारे सफ़ेद हैं। और क्यों न सफ़ेद हों? सफ़ेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। वरफ़ानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीर-सागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका वे-मकान* है, घर इनका वे-घर है, ये लोग वे-नाम* और वे-पता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरें फ़ानी* में।
ठिकाना वेठिकाना और मकाँ पर ला-मकाँ* रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की ज़रूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोंपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण उनके सखा हैं।

गडरिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय* मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों* के क्या फ़व्वारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफ़ान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ़ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अंत:करण सफ़ेद, इनकी बर्फ़, पर्वत और भेड़ें सफ़ेद। अपनी सफ़ेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफ़ेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुम को।
मैं देखता हूँ तुम को जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। ज़रा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गड़ गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फ़ुरसत नहीं। पर हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित, मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुज़र गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आये और झम-झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनन्दित हुए। बूढ़ा गडरिया आनंदोन्मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, पर किसी दैवी दृश्य

को उसने अवश्य देखा है। फूले अंग नहीं समाता; रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच कर उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उसे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान* हो रहा है उसे इस गडरिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की ऊटपटांग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिये के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह, क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब-के-सब अवयव* उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आप के न थे। वे तो पृथ्वी से निकाले हुए धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होना है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो

दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज़ ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मज़दूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली! जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज़ के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज़ याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है। पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज़ भरतमिलाप* का-सा समाँ बँध जाता है।

आजकल भाप की कलों का दाम तो हज़ारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी* में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट* है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मज़दूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मज़दूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के, विचार और चिंतन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मज़दूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे

की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ! जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मज़दूरों की उँगलियों से निकलती है।

मज़दूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मज़दूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती* देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हज़ारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सूई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी काग़ज़, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं; हाथ की बनी हुई जापानी चीज़ें मशीन से बनी हुई जापानी चीज़ों को मात करती हैं। संसार के सब बाज़ारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी* का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है, हम जगत् को जीत लें ("We shall beat the world with the tips of our fingers")। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम

करने लगें तो उनकी मज़दूरी की बदौलत कुबेर* का महल उनके चरणों में आप-ही-आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मेहनत* से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल लेना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फ़क़ीरी और साधुता के ये दिव्य कलाकौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य-जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मज़दूर और मज़दूर की मज़दूरी का सत्कार नहीं होता; जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करने वालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मज़दूरी सुन्दरता का अनुभव करने वाले कला-कौशल, अर्थात् कारीगरी का रूप हो जाती है। इस आकाश के नीचे बैठे हुए मज़दूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख* को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी की स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मज़दूरी है; परन्तु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मज़दूरी है। शिवजी के तांडव-नृत्य* का और पार्वतीजी के मुख की शोभा का पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव* है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्त्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्त्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मज़दूरी

रग़वत (रुचि) बढ़ी तो सवारी जुवार के खेत में होकर निकली। हर एक तने (संटी) में एक ही वाली निकला करती है पर एक तना ऐसा देखने में आया जिसमें १२ बालियाँ थीं, (देखकर) हैरत हुई और उस वक्त बादशाह और बाग़बान की हिकायत (बात) याद आई।

"एक बादशाह गर्म हवा में एक बाग़ के दरवाज़े पर पहुँचा। बूढ़ा बाग़बान दरवाज़े पर खड़ा था। पूछा कि इस बाग़ में अनार हैं? कहा, 'हैं'। बादशाह ने फ़रमाया कि एक प्याला अनार के रस का ला। बाग़बान की लड़की अच्छी सूरत* और स्वभाव की थी; उसको इशारा किया कि अनार का रस ले आ। लड़की गई और फ़ौरन एक प्याला अनार के रस का ले आई। उस पर कुछ पत्ते भी रखे थे।

"बादशाह ने उसके हाथ से लेकर पी लिया और लड़की से पूछा कि रस पर इन पत्तों के रखने का क्या मतलब था। उसने बड़ी मीठी बोली से अर्ज़ किया कि ऐसी गर्म हवा में पसीने से डूबे हुए और सवारी से पहुँचने में एक दम पानी पीना हिक्-मत के खिलाफ़ है, इस विचार से मैंने पत्ते रस और प्याले के ऊपर रख दिये थे कि धीरे धीरे पीएँ।

"उसकी यह सुहानी अदा* सुलतान के मन को भा गई और उसने चाहा कि मैं इस लड़की को महल की खिदमतगारनियों में दाखिल करूँ।

"फिर उस बाग़बान से पूछा कि तुमको इस बाग़ से क्या हासिल होता है। कहा, ३०० दीनार। कहा, दीवान (कचहरी) में क्या देता है। कहा, कुछ नहीं। सुलतान किसी पेड़ का कुछ नहीं लेता है बल्कि खेती का भी दसवाँ हिस्सा ही लेता है।

"बादशाह के मन में आया कि मेरी सल्तनत में बाग़ बहुत और दरख़्त बेशुमार हैं, अगर बाग़ के हासिल भी दसवाँ

भाग दें तो काफ़ी रुपया होता है, और रैयत* को कुछ नुकसान भी नहीं पहुँचता। अब फ़रमा दूँगा कि बाग़ों का भी महसूल लिया करें।

"फिर कहा कि अनार का कुछ रस और भी ला।" लड़की गई और देर में अनार के रस का एक प्याला लाई। सुलतान ने कहा कि जब तू पहले गई थी तो जल्दी आ गई थी और बहुत ज्यादा ले आई थी। अब तूने बहुत रास्ता दिखाया और थोड़ा भी लाई। लड़की ने कहा कि तब तो मैंने प्याला एक ही अनार के रस से भर लिया था, अब ५–६ अनारों को निचोड़ा और उतना रस नहीं निकला। सुलतान की हैरत और भी बढ़ गई।

"बाग़वान ने अर्ज़ की कि फल में बरकत बादशाह की नेकनीयती* से होती है। मेरे मन में ऐसा आता है कि तुम बादशाह होगे। जब तुमने बाग़ का हासिल मुझसे पूछा तो तुम्हारी नीयत डावाँडोल हो गई जिससे फल की बरकत जाती रही। सुलतान पर इस बात का बड़ा असर (प्रभाव) पड़ा और उसने उस ख़याल को दिल से दूर करके कहा कि एक बेर फिर अनार के रस का एक प्याला ला। लड़की फिर गई और जल्दी से भरा हुआ प्याला बाहर ले आई और उसने उसे हँसते-खेलते सुलतान के हाथ में दिया।

"सुलतान ने बाग़वान की बुद्धिमानी पर शाबाशी देकर सारा हाल जाहिर कर दिया और लड़की बाग़वान से माँग ली। उस ख़बरदार बादशाह की यह हिकायत दुनिया के दफ़तर में यादगार रह गई।"

"जहाँगीर अपनी ओर से इस कहानी पर लिखते हैं कि इन बातों का ज़ाहिर होना नेकनीयत और इन्साफ़ के नतीजों से है। जबकि इंसाफ़ी बादशाहों की नीयत और हिम्मत दुनिया

के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नेकियों का ज़ाहिर होना, खेतियों तथा बाग़ों की पैदावारों का बढ़ जाना मुश्किल नहीं है। ख़ुदा का शुक्र है कि इस सलतनत* (हिंदुस्तान) में पेड़ों के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी भी इस सीग़े (खाते) की दीवान-आला और खज़ाने आमरे में दाखिल नहीं होती है, बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की ज़मीन में बाग़ लगावे तो उसका हासिल माफ़ रहे। उम्मेद है कि सच्चा ख़ुदा इस न्याज़मंद (दीन-हीन) को हमेशा नेकनीयती की श्रद्धा दे।

"जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे† ॥"

फ़ारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेकनीयती का बखान करते हुए कहा है—

'चू नीयत नेक बाशद बादशा रा।
बजाए गुल गुहर खेज़द गिया रा॥

'अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास में मोती लगे।"

राम और भरत

(श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल)

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति* ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े-बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर

† 'तुज़ुक जहाँगीरी,' जिल्द २, पृष्ठ २४३-४४।

रहकर अस्त्र-शिक्षा प्राप्त की तथा विघ्नकारी विकट राक्षसों पर पहले-पहल अपना बल आज़माया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था में ही ऐसे विकट प्रवास* के लिए जिनकी धड़क खुलती हमने देखी उन्हीं को पीछे चौदह वर्ष वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए, जगत् को क्षुब्ध करने वाले कुंभकर्ण और रावण ऐसे राक्षसों को मारते हुए हम देखते हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियों के बीच वीर-जन का विकास होता है; उनकी परंपरा का निर्वाह हम क्रम से रामचरित में देखते हैं। राम और लक्ष्मण ये अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनों पात्रों में नहीं कर सकते। पर सीता के स्वयम्वर में दोनों भाइयों के स्वभाव में जो पार्थक्य* दिखाई पड़ा उसका निर्वाह हम अंत तक पाते हैं। जनक परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर-अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता, गम्भीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं; वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गम्भीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गंभीर और सुशील अन्तःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता। सारे अवध-वासियों को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कु-अवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आय करइ अकंटक राजू॥

और तुरन्त इस अनुमान पर उनकी त्योरी चढ़ जाती है—

जिसके बाण खींचते ही 'उठी उदधि* उर-अंतर ज्वाला'। उसने पहले तीन दिनों तक हर एक प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ। विनय वाली नीति उन्हें पसंद न थी। एक बार, दो बार कह देना ही काफ़ी समझते थे।

वाल्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण के महाक्रोध का वर्णन किया है। पर न जाने क्यों वहां तुलसीदास जी इसे बचा गये हैं।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार-बार इसलिए मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी ग्लानि दूर हो। वे बार-बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। अपने साथ बुराई करने वाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत* हो गया था कि शील का संस्कार उस पर सब दिन के लिए जम सकता था। गोस्वामी जी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

> कैकयी जौ लौं जियति रही।
> तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही।
> मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही॥

इतने पर भी कहीं गाँस* रह सकती है?

गार्हस्थ्य-जीवन के दाम्पत्य भाग के भीतर सबसे मनोहर

वस्तु है उनकी 'एक भार्या' की मर्यादा। इसके कारण यहां से वहां तक जिस गौरवपूर्ण माधुर्य का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वचनीय है। इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा।

भक्तों को सबसे अधिक वश में करने वाला राम का गुण है, शरणागत की रक्षा। अत्यन्त प्राचीन काल से ही शरण-प्राप्त की रक्षा करना भारतवर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है। इस विषय में भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य जगत् में थी। सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् दारा जब भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारों ने विश्वासघात* करके उसे मार डाला। उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप वरजयंत था। जब सिकंदर ने दंड देने के लिए इन तीनों विश्वासघातियों का पीछा किया, तब वरजयंत ने भारतवासियों के यहां आकर शरण ली और बच गया। प्राचीन यहूदियों के एक जत्थे का गांधार और दक्षिण में शरण पाना प्रसिद्ध है। इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्य-धर्म की रक्षा के लिए भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया, क्योंकि शरणागत की रक्षा यहां प्राण देकर की जाती थी। अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बड़ा भारी पाप माना जाता है—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहिं बिलोकत हानि॥

शरणागत की रक्षा की चिंता रामचंद्र के हृदय से दारुण शोक के समय में भी दूर न हुई। सामने पड़े हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिन करौं भरोसो का को?

सुनु सुग्रीव ! साँचहू मो सन फेरयो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि-कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषण की गति, रही सोच भरि छाती॥

राम के चरित्र की इस उज्ज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बाली को छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदास जी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफ़ेद रंग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही संपूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना-मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य की-सी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते। उनका चरित्र भी उपदेशक महात्माओं की केवल महत्त्वसूचक फुटकर बातों का संग्रह होता, मानव-जीवन की विशद* अभिव्यक्ति सूचित करने वाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई-बंधु बनकर आये थे और हमारे ही समान सुख-दुःख भोगकर चले गये। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आये थे, मनुष्यता दिखाने आये थे। भूल-चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हें मानव जीवन से तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या, कुछ भी हटे हुए नहीं समझते हैं।

अब थोड़ा भरत के लोक-पावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम की वन-यात्रा के पहले भरत के चरित्र की शृंखला संघटित करने वाली कोई बात हम नहीं पाते। उनकी अनुपस्थिति में ही राम के अभिषेक* की तैयारी हुई, राम वन को गये। ननिहाल से लौटने पर ही उनके शील-स्वरूप का

स्फुरण आरम्भ होता है। ननिहाल में जब दुस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे माता-पिता और भाइयों का मंगल मनाते हैं। कैकेयी के कुचक्र में अणु-मात्र योग के संदेह की जड़ यहीं से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का संवाद सुन वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वन-गमन की बात सामने आती है, जिसके साथ अपना संबंध, नाम-मात्र का सही, समझ कर वे एकदम ठक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ संबंध जोड़ने वाली माता के रूप में नहीं दिखाई देती। थोड़ी देर के लिए उसकी ओर से मातृभाव हट-सा जाता है। ऐसा उज्ज्वल अंतःकरण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श तक सहन नहीं कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे, इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का यह संताप बिना शांति-शील-समुद्र राम के सम्मुख हुए दूर नहीं हो सकता। वे चट विरह-व्यथित* पुरवासियों को लिये-लिये चित्रकूट में जा पहुँचते हैं और अपना अंतःकरण भरी सभा में लोकादर्श राम के सम्मुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उसकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस बात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोक-लज्जा-वश किया? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्म-ग्लानि थी, सच्चा संताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्म-ग्लानि ही उनकी सात्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्म-ग्लानि के कारण का अनुसंधान करने पर हम उस तत्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्म-ग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोच कर होती है। भरत जी कोई बुरी बात अपने मन में लाये तक न थे। फिर यह आत्म-ग्लानि

कैसी ? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान-मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से क्या होता है ? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं। आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय राम-चरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विक-शील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्विक-शीलता* समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्विक-शीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियों के बीच दस-पाँच दिन के लिए भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायँगे। ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण, जिसमें प्रभविष्णुता* न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिनके संबंध में राम कहते हैं—

> मिटिहहिं पाप-प्रपंच सब, अखिल-अमंगल-भार।
> लोक-सुजस, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥

जिन भरत को अयश की इतनी ग्लानि हुई, जिनके हृदय से धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में यश और परलोक में सुख दोनों क्यों न प्राप्त हों ?

भरत के हृदय का विश्लेषण* करने पर हम उसमें लोक-भीरुता, स्नेहार्द्रता,* भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं। राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्ति-वश 'पाहि ! पाहि !' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। सभा के बीच में जब वे

अपने हृदय की बात निवेदन करने खड़े होते हैं, तब भ्रातृ-स्नेह उमड़ आता है, बाल्यावस्था की बातें आँखों के सामने आ जाती हैं। इतने में ग्लानि आ दबाती है और वे पूरी बात भी नहीं कह पाते हैं—

पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज-नयन नेह-जल बाढ़े॥
कहब मोर मुनि नाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा?
मैं जानौं निज-नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा-सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहुँ देखी॥
सिसुपन ते परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु-कृपा-रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

महुँ सनेह-सँकोच-बस सनमुख कहेउ न बैन।
दरसन-तृपित न आजु लगि पेम-पियासे नैन॥

बिधि न सकेहु सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥
यहउ कहत मोहिं आजु न शोभा। अपनी समुझि साधु, सुचि को भा?
मातु मंद, मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरइ कि कोदव-बालि सुसाली। मुकुता प्रसव कि संबुक-ताली॥
बिनु समुझे निज-अघ-परिपाकू। जारेउँ जायँ जननी कहि काकू?
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भांति भलेहि भल मोरा॥
गुरु गोसाइँ, साहिब सिय-रामू। लागत मोहिं नीक परिनामू॥

भरत को इस बात पर ग्लानि होती है कि मैं आप अच्छा बनकर माता को भला-बुरा कहने गया। "अपनी समुझि साधु सुचि को भा?" जिसे दस भले आदमी पवित्र और सज्जन लोग, जड़ और नीच नहीं—साधु और सुचि माने, उसी की साधुता और शुचिता किसी काम की है। इस ग्लानि के दुख से उद्धार पाने की आशा एक इसी बात से होती है कि गुरु और स्वामी वसिष्ठ तथा राम ऐसे ज्ञानी और सुशील हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आशा ऐसे दृढ़ आधार पर थी कि

पूर्ण रूप से फलवती हुई। भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करने वाले भी हुए। राम ने उन्हें धर्म का साक्षात् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी।

बुढ़िया और नौशेरवाँ

(श्री पं० पद्मसिंह शर्मा)

बहुत से लोगों का ख़याल है कि प्रजा-तन्त्र शासन-प्रणाली* की जननी नवीन सभ्यता ही है; राज-शासन में प्रजा के मतामत को जानकर कार्य करना, योरुप के लोगों ने ही संसार को सिखाया है। एशिया के पुराने शासकगण स्वेच्छाचार-परायण* और निरे उद्दण्ड होते थे। उनकी शख़्सी हुकूमत* में किसी को चूँ करने, या दम मारने की मजाल न थी। प्रजा का जान-माल और उनकी ज़िन्दगी-मौत खुदमुख़्तार* राजा और बादशाहों की एक 'हां' या 'नहीं' पर मौक़ूफ़* थी। ज़रा-सी नाराज़गी या हुक्म-उदूली* पर क़त्ले-आम और 'विज़न'* बोल दिया जाता था। ज़रा-ज़रा-सी बात पर आन-की-आन में गाँव-के-गाँव शासकों की क्रोधाग्नि में फुँककर भस्म हो जाते थे। उनके मुँह से जो बुरा-भला निकल गया, वह ईश्वरेच्छा की तरह अमिट था। फिर चाहे जो भी हो, पर उनका हुक्म ज़रूर पूरा हो। उनकी उद्दण्डाज्ञा के आगे हुत्कार निकालना "जो हुक्म हज़ूर" के सिवा कुछ और ननु-नच करना, वक़्त से पहले मौत को बुलाना था। राजा और ईश्वर का एक दर्जा था—जिस तरह वह बड़ा 'ईश्वर' अपना कोई काम किसी से पूछकर नहीं करता, वह जो कुछ भी रहम या क़हर* अपने बंदों पर नाज़िल* करे उसे शुक्र और

सब्र के साथ बरदाश्त करने के सिवा कुछ चारा नहीं, इसी तरह छोटा 'ईश्वर' (राजा) भी शासन में सब प्रकार से स्वतंत्र और-'कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः'—समझा और माना जाता था। "हुक्मे हाकिम मर्गे मफ़ाजात"* यह मशहूर कहावत उसी ज़माने की एक यादगार है।

सम्भव है एशिया के पुराने तर्ज़ हुकूमत* के बारे में नई रोशनीवालों का यह ख़्याल किसी हद तक ठीक हो, और यह भी दुरुस्त हो कि पहले यहां हुकूमत का पार्लिमेंटरी तरीक़ा बिल्कुल आजकल की तरह कभी जारी न था; यद्यपि बहुत से विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रमाण-पुरःसर* प्रयत्न किया है कि पुराने भारत में भी इस समय के ढंग से ही मिलता-जुलता प्रजातंत्र-प्रणाली का शासन प्रचलित था। यहां का पुराना शासन इस समय के प्रजातंत्र-शासन से भिन्न प्रकार का था, या बिल्कुल ऐसा ही था; और वह इससे अच्छा था या बुरा, इस विषय पर हम यहां विवाद करना नहीं चाहते। यहां का पुराना शासन-प्रकार चाहे किसी ढङ्ग का था, पर उसमें यह बात नहीं थी। जैसा कि आजकल की नई रौशनी के परवाने कितनेक महाशयों का ख़्याल है कि—'भारत के पुराने शासक निरे गवरगण्ड राजा के क़ास के होते थे, न्याय में उनकी इच्छा ही सब कुछ थी।' पुराने इतिहासों में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिनसे अच्छी तरह सिद्ध होता है कि न्याय के लिए प्रजा की पुकार पर पूरा ध्यान दिया जाता था। साधारण से साधारण और तुच्छातितुच्छ व्यक्ति भी कभी-कभी न्याय के बल पर बड़े-बड़े सम्राटों के सामने डट जाते थे; और उनके न्याय-संगत पक्ष से उन स्वच्छन्द शासकों को पराहत होना पड़ता था। आज हम ऐसा ही एक पुराना ऐतिहासिक उदाहरण पाठकों के सामने रखना चाहते हैं, जिसकी मिसाल

बीसवीं सदी के पार्लिमेंटरी रिपब्लिक या प्रजातंत्र-प्रणाली के शासन में भी शायद ही कहीं मिले। यह घटना एशिया खण्डान्तर्गत फ़ारस (ईरान) देश के सुप्रसिद्ध बादशाह 'नौशेरवाँ आदिल'* के सम्बन्ध की है।

मशहूर है कि नौशेरवाँ के शाही महल की बग़ल में एक बुढ़िया भड़भूँजन की फूँस की झोंपड़ी थी। जब महल की नींव डाली जाने लगी तो बुढ़िया से उसकी झोंपड़ी माँगी गई। झोंपड़ी के बिना मिलाये महल सीधा न बनता था। उसके बदले में बुढ़िया को बढ़िया-से-बढ़िया मकान और मुँह-मांगे दाम देने को कहा गया, पर उस ज़िद्दन बुढ़िया ने किसी तरह अपनी झोंपड़ी को छोड़ना पसन्द न किया। वह बराबर यही कहती रही कि "मैं अपनी झोंपड़ी पर बादशाह के सारे महलों को निछावर करके फेंक दूँगी, भाड़ की आग से फूँक दूँगी पर अपनी झोंपड़ी न छोड़ूँगी।" लाचार होकर बुढ़िया की झोंपड़ी छोड़ दी गई, और ख़म* देकर महल बनाया गया। महल बनने के बाद जब यह देखा गया कि बुढ़िया की झोंपड़ी के उठते हुए धुएँ से शाही महल का कोना काला होता है तो बुढ़िया से कहा गया कि 'तू भाड़ चढ़ाना बंद कर, और चूल्हा मत फूँक, क्योंकि इससे महल का कोना काला हुआ जाता है, तेरे लिए शाही लंगर से अच्छे-से-अच्छा खाना मिल जाया करेगा।' पर बुढ़िया ने यह भी स्वीकार न किया, उसने कहा कि 'मैं कोई भिखारन या अपाहज* नहीं हूँ जो शाही लंगर की रोटियों से अपना पेट पालूँ।'

बुढ़िया के भाड़ और चूल्हे का धुआँ बराबर महल को काला करता रहा, पर आदिल नौशेरवाँ के अद्ल (न्याय) ने इस बात की आज्ञा न दी कि उसे जबरन्* बन्द करा सके।

नौशेरवाँ का वह तिरछा और बुढ़िया की झोंपड़ी के उठते

हुए धुएँ से मैला महल, नौशेरवाँ के न्याय की समता को और उसके शशि-शुभ्र* यश के प्रकाश को अब तक संसार में फैला रहा है। नौशेरवाँ का वह आकाश से छूने वाला महल और बुढ़िया की झुकी हुई झोंपड़ी, दोनों ही समय पर आकर खाक में मिल गये; बादशाह और बुढ़िया भी कभी के संसार से विदा हो गये; पर उनकी यह न्याय-कहानी अब तक ज़िंदा है। ऐसे ही सत्कार्यों ने नौशेरवाँ के नाम को अजर अमर बना दिया है। इसी लिए वह आदर्श "आदिल" (न्याय करने वाला) कहलाता है—'शेख़ सादी' ने इसी लिए यह कहा है और बिल्कुल ठीक कहा है:—

'कारूँ हिलाक शुद के चहलख़ाना गन्ज दाश्त,
नौशेरवाँ न मुर्द के नामे-निको गुज़ाश्त'।

—कारूँ हिलाक* हो गया—मर गया, यद्यपि उसके पास चालीस कोठरियां ख़ज़ाने की थीं, नौशेरवाँ नहीं मरा, क्योंकि वह अपना नेक-नाम दुनिया में छोड़ गया—"कीर्तिर्यस्य स जीवति"।*

भेड़ियों द्वारा पाले हुए लड़के

(श्री सन्तराम, बी० ए०)

कौआ कोयल के अंडे, बत्तख़ राजहंस के अंडे, और मुर्ग़ी मोर के अंडे सेकर बच्चे पाल देती है। वन से पकड़ कर लाये हुए हिरण के छोटे बच्चे को बकरी दूध पिला देती है। ये बातें ऐसी हैं जिन्हें सब कोई जानता है। इसलिए इनको सुन कर आश्चर्य नहीं होता। पर मनुष्य के बच्चे को भी बनैले* जीव-जन्तु पाल लेते हैं, इस बात पर आपको सहसा विश्वास

बाद को जो विभिन्न समयों में जीते-जागते और सकुशल इन जन्तुओं के साथ पाये गये थे। इजर्टन की पत्रिका में इस घटना का वृत्तान्त इस प्रकार दिया गया है—

"अवध के नवाब के दो सवार गोमती नदी के किनारे-किनारे जा रहे थे। उन्होंने तीन जन्तुओं को नदी में पानी पीने आते देखा। दो तो स्पष्टतः भेड़िये के बच्चे थे, पर तीसरा स्पष्टतः कोई दूसरा ही जन्तु था। सवारों ने एकदम उनके पीछे घोड़े दौड़ा दिये और तीनों को पकड़ लिया। उन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनमें से एक छोटा-सा नङ्गा लड़का था। वह अपने साथियों की भाँति हाथों और पैरों के बल चलता था। उसके घुटनों और कुहनियों पर घट्ठे पड़े हुए थे। वह अपने आप को छुड़ाने के लिए पकड़ने वालों को दाँतों से काटता और नाखूनों से खरोंचता था। लड़के को लखनऊ लाया गया। वहाँ वह कुछ समय तक जीता रहा। वह बिलकुल कोई शब्द नहीं बोल सकता था। पर उसमें कुत्ते-की-ऐसी बुद्धि थी। वह संकेत को तुरन्त समझ लेता था।"

जियोलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया के श्री वी० वाल की पुस्तक "भारत में वन-जीवन" सन् १८८० में प्रकाशित हुई थी। उसमें उसने मर्चीसन की लिखी बातें उद्धृत की हैं और करनल स्लीमन की बताई हुई दूसरी घटनाओं की पूरी-पूरी बातें दी हैं। उनमें से पीछे से प्रो० मेक्समूलर की बताई हुई एक घटना भी है। एक सैनिक घुड़सवार नदी के किनारे-किनारे दुपहर के समय जा रहा था। उसने एक मादा भेड़िये को अपनी माँद से निकल कर आते देखा। उसके पीछे तीन भेड़िये के बच्चे और एक लड़का था। भेड़ियों की भाँति लड़का भी हाथों और पैरों के बल ही दौड़ रहा था। मनुष्य को देख कर वे फिर माँद में जा छिपे। सवार निकटवर्ती गाँव में जाकर

लोगों को बुला लाया और उनकी सहायता से कन्दरा* को खोद कर उनको निकाला गया। लड़के को पकड़ लिया गया। जब वे उसे घर ला रहे थे तो वह छूटने के लिए प्रचण्ड चेष्टा करता था। रास्ते में जहाँ भी कोई कन्दरा या कोई छेद देख पड़ता, वह भाग कर उसमें छिप जाने का प्रयत्न करता। वह बड़े मनुष्यों के सामने तो डर से सिकुड़ कर बैठ जाता, पर बच्चों पर आक्रमण करने में तनिक भी संकोच न करता। वह बँधी हुई कोई भी वस्तु नहीं खाता था, पर कच्चा माँस खा जाता और हड्डियों को कुतरता था। खाद्य को पकड़ कर नीचे रखने के लिए वह जन्तुओं के पैरों के पंजे के सदृश हाथों का उपयोग करता। उन्होंने उसे बुलाने का बहुतेरा यत्न किया पर क्रोध-भरी घड़घड़ाहट और गुर्राहट के सिवा वह कुछ न बोला। कुछ काल तक हसनपुर के राजा ने लड़के को अपने पास रखा। बाद को उसने उसे अवध लोकल इनफ़ेण्टरी की फ़र्स्ट रेजीमेण्ट के किसी केप्टन निकोलट्स के पास भेज दिया। इस लड़के के विषय में कहा जाता है कि वह अपने शरीर पर कोई कपड़ा न सँभार सकता था। उसे शीत से बचने के लिए जब रज़ाई दी गई तो उसने उसे फाड़ डाला और थोड़ा-सा खा भी लिया। केप्टन निकोलट्स ने कर्नल स्लीमन को १७ सितम्बर १८५० को एक चिट्ठी लिखी थी। उसमें लिखा था कि लड़का उसी वर्ष अगस्त में मर गया।

कर्नल स्लीमन के प्रमाण से बॉल ने जिस घटना का उल्लेख किया है वह एक लड़के का वृत्तान्त है जिसे सन् १८४३ में भेड़िया उठा ले गया था, जब कि उसके माता-पिता खेत में गेहूँ काट रहे थे। इसके छः वर्ष बाद कुछ ग्रामीणों ने एक मादा भेड़िये के पीछे एक लड़का और तीन भेड़िये

के पिल्ले जाते देखे। लड़का पकड़ लिया गया। बचपन में लड़के के घुटने पर चोट लग गई थी। वहाँ एक दाग़ पड़ गया था। उस दाग़ को देख कर लड़के की माँ ने पहचान लिया कि यह मेरा ही वह पुत्र है जिसे छः वर्ष हुए भेड़िया उठाकर ले गया था जब कि मैं और इसका पिता खेत में गेहूँ काट रहे थे। कर्नल स्लीमन की चौथी घटना एक ऐसे लड़के की है जो एक बड़े भेड़िये के साथ-साथ दुलकी चलता हुआ पकड़ा गया था। इसे बाद को अवध लोकल इन्फ़ेण्टरी के कर्नल ग्रे, उनकी धर्मपत्नी और रेजिमेण्ट के दूसरे अफ़सरों ने देखा था। जिस अन्तिम घटना का कर्नल स्लीमन को ज्ञान है उसका आधार बाँकीपुर के एक ज़मींदार ज़ुलफ़ुक्कार खाँ का लक्ष्य है। जिस समय लड़के को भेड़िया उठा कर ले गया उस समय उसकी अवस्था छः वर्ष की थी। उसे उसके ले-पालक* माता-पिता भेड़ियों से चार वर्ष बाद वापस लिया गया था।

सन् १८७२ में बॉल को आप एक भेड़िये द्वारा पाले हुए लड़के को देखने का अवसर मिला था। सकन्दरा मिशन अनाथालय की रिपोर्ट का एक उद्धरण* पढ़ कर उसका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ था। यह उद्धरण उस समय भारत के पत्रों में खूब छप रहा था। वह उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"एक दस वर्ष के लड़के को भेड़िये की माँद के बाहर आग जला कर भेड़ियों सहित बाहर निकाला गया। यह कहना संभव नहीं कि वह कब से भेड़ियों के साथ था, पर उसके हाथ-पैर के बल पशुओं की तरह चलने और कच्चा मांस खाने के स्वभाव से जान पड़ता है कि वह अवश्य दीर्घ काल से उनके साथ रहता होगा। अभी तक भी वह बहुत अधिक जंगली जन्तु के ही सदृश है उसके घें-घें शब्द से कुत्ते

के पिल्ले या वैसे ही दूसरे जन्तु की याद हो आती है। कुछ वर्ष हुए, हमें वैसे ही एक बच्चा मिला था। वह आश्चर्यजनक रूप से बातें सीख रहा है। यद्यपि वह बोल नहीं सकता तो भी अपने दुःख-सुख को पूरी तरह व्यक्त कर सकता है। हमें आशा है कि यह नया 'अभागा" भी उन्नति कर जायगा।

वॉल ने तुरंत अनाथालय के सुपरिन्टेण्डेण्ट पादरी इर्हार्डट को पत्र लिख कर पूछा कि ये बातें कहाँ तक सत्य हैं। श्री इर्हार्डट का उत्तर श्री वॉल ने बाद को एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल के पास भेज दिया। वह सोसायटी की सन् १८७६ की पत्रिका में छपा है। श्री इर्हार्डट ने लिखा—

"हमारे पास यहाँ दो ऐसे लड़के हैं। पर मैं समझता हूँ आप का अभिप्राय शायद उस लड़के से है जो हमारे पास ६ मार्च १८७२ को लाया गया था। कुछ हिन्दू शिकार खेलने गये थे। उन्हें यह मैनपुरी के पड़ोस में मिला था। उसे आग जला कर माँद से बाहर निकाला गया था। उसके शरीर पर घाव और क्षत चिन्ह थे। वे अब तक भी वर्तमान हैं। उसके स्वभाव प्रत्येक दृष्टि से बिलकुल जंगली जन्तुओं के-से थे। वह कुत्ते की तरह पानी पीता था। उसे हड्डी और कच्चा मांस जितना अच्छा लगता था उतनी और कोई वस्तु नहीं। वह दूसरे लड़कों के साथ कभी नहीं बैठता था; बाहर किसी अँधेरे कोने में जाकर छिप जाता था। उसे कपड़े पहनना बिलकुल न भाता था। कपड़ा पहनाने पर वह उसे फाड़ कर चिथड़े-चिथड़े कर डालता था। वह हमारे पास कुछ ही मास रहा फिर उसे ज्वर आने लगा और उसने खाना छोड़ दिया। हम कुछ समय तक कृत्रिम रीति से उसका पोषण करते रहे पर अन्त को वह मर गया।

"दूसरा लड़का जो भेड़ियों में से पकड़ा गया था, अब १६ या १४ वर्ष का है और हमारे पास छः वर्ष से है। उसने शब्द

निकालना सीख लिया है यद्यपि वह बोल नहीं सकता, पर वह क्रोध और हर्ष युक्त भाव प्रकट कर सकता है। वह कभी-कभी थोड़ा काम करता है, पर उसे खाना बहुत पसंद है। उसकी सभ्यता ने केवल इतनी ही उन्नति की है। अब वह कच्चा मांस कम पसंद करता है पर अब तक भी वह हड्डी उठाकर उससे अपने दाँत तेज़ किया करता है।

"परन्तु उपर्युक्त दोनों में से कोई भी नई घटना नहीं। केवल चार ही वर्ष हुए लखनऊ के पागल-घर में एक बड़ी अवस्था का मनुष्य था—शायद अब भी हो, जिसे एक डाक्टर ने भेड़िये की माँद में से खोदकर निकाला था। कब निकाला था यह मैं भूल गया हूँ। पर अवश्य काफ़ी वर्ष पहले की बात रही होगी। जिस आसानी के साथ ये लड़के हाथों और पैरों के बल दौड़ सकते हैं, उसे देख आश्चर्य होता है। किसी वस्तु को खाने या चखने के पहले वे उसे सूँघते हैं। यदि उनको उसकी गंध नहीं भाती तो वे उसे फेंक देते हैं"।

बाद को श्री बॉल आप अनाथालय देखने गया। श्री इर्हार्डट ने उसे वह लड़का दिखाया। उसका चेहरा ऐसा था जैसा सामान्यतः जड़बुद्धि लोगों का होता है—बैठा हुआ माथा, निकले हुए दाँत और अशान्त, विकल ढंग। उसके शारीरिक गठन की जिस बात ने श्री बॉल का सब से अधिक ध्यान आकृष्ट किया, वह थी उसकी भुजाओं का छोटापन। सकन्दरा मिशन अनाथालय में और भी कई भेड़ियों द्वारा पाले गए लड़के रहते रहे हैं। ७ मई सन् १८८९ को प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ, स्वर्गीय सर जीवनजी मोदी ने बंबई की जीवजन्तु-इतिहास-सभा के सदस्यों की बैठक में भेड़िये द्वारा पालित-पोषित एक लड़के का वृत्तान्त सुनाया था। सर जीवनजी सन् १८८७ के पूर्वार्ध में उत्तर-भारत में घूम रहा

था। वह सकन्दरा में अकबर की ईसाई स्त्री मरियम की समाधि देखने गया। सकन्दरा प्रवास में उसने चर्च मिशन अनाथालय में एक युवक देखा जो भेड़िया-बालक कहलाता था। अनाथालय का अधिष्ठाता* उन दिनों पादरी लीविस था। उसने अपनी सन् १८८५ की रिपोर्ट में इस लड़के का इतिहास छापा था:—

"४ फ़रवरी सन् १८६७ को बुलन्दशहर के मजिस्ट्रेट ने यह लड़का अनाथालय के अधिष्ठाता के पास भेजा था और कहा था कि उसे भेड़िये की खोह में से पकड़ा है। कुछ देसी मनुष्य बुलन्दशहर जिले के सूने वन-प्रदेश में जा रहे थे। उन्हें पाँच-छः वर्ष के एक बच्चे को हाथ-पाँव के बल इधर-उधर टहलते देख बड़ा आश्चर्य हुआ। जब वे उस अनोखी चीज़ के निकट पहुँचे तो वह एकदम एक बड़े छेद में अन्तर्धान हो गया। जब ध्यान से देखा तो पता लगा कि वह बड़ा विवर* किसी वन-जन्तु की खोह है। खोह को खोदकर लड़के को बाहर निकालने का प्रयत्न विफल हुआ। उसके पीछे खोह में घुसने में भी डर होता था। इसलिए वे उस असाध्य घटना की सूचना बुलन्द-शहर के मजिस्ट्रेट को देने चले। इस विचित्र कथा को सुन मजिस्ट्रेट ने तुरन्त अपने दूत उस जगह भेजे और खोह के मुँह पर आग जलाने को कहा ताकि खोह-वासी धुएँ के कारण बाहर निकल आने पर विवश हो जायँ। दूतों ने वैसा ही किया। जब धुआँ विवर के भीतर घुसा, उससे साँस घुटने और आँखें अंधी होने लगीं, तो एक बड़ी मादा भेड़िया गुर्राती हुई छलाँग मारकर बाहर निकली। लोग डर कर इधर-उधर बिखर गये और मादा भेड़िया प्राण बचा कर भाग गई। इसके पल भर बाद वह लड़का भी निकल आया और पकड़ लिया गया। उसे मजिस्ट्रेट के पास ले जाया गया। वह बोल नहीं सकता

था, नितान्त जड़-बुद्धि था, और जितना कोई मनुष्य अधिक-से-अधिक पशु हो सकता है उतना पशु वह था। उसे निरामिष भोजन खाने को दिया गया। पर उसने खाने से इनकार कर दिया। जब उसके सामने मांस रखा तो वह झट खा गया। मजिस्ट्रेट ने जब देखा कि लड़के को बुद्धिमान् और उपयोगी बनाना संभव नहीं तो उसने इसे अनाथालय में भेज दिया और उसे वहाँ रखने की प्रार्थना की।"

जिस समय सर जीवनजी ने लड़के को देखा उस समय वह बढ़ कर पूरा जवान मनुष्य बन चुका था। वह बोल नहीं सकता था, पर संकेत समझता था। जब पहले-पहल उसे मिशन में लाया गया तब वह हाथ-पाँवों के बल चलता था, पर अब सीधा खड़ा होकर चलने लगा था। पहले जो वह कच्चे मांस के लिए लालायित रहता था उसकी अब वह लालसा भी दब चुकी थी। अब चेरुट पीने लगा था और चेरुट खरीदने के लिए संकेतों द्वारा पैसे माँगा करता था।

सन् १६३७ में एक भारतीय पत्रिका में बिशप एच० पाकन हम वाल्श का लिखा एक वृत्तान्त प्रकाशित हुआ था। उसमें उस ने मिदनापुर के एस० पी० जी० मिशन के अधिष्ठाता, रेवरेण्ड जे० ए० एल० सिंह द्वारा एक मादा भेड़िये की माँद में दो लड़कियों के प्राप्त किये जाने की बात कही थी। पर घटना सन् १६२० में हुई थी। इससे भेड़ियों द्वारा पाले गए मनुष्य के बच्चों की घटनाओं में एक और की वृद्धि हो जाती है।

पशु-पक्षियों द्वारा पालित मनुष्य-शिशुओं की कहानियाँ पहले जिन्न-भूतों की कहानियों की तरह केवल कपोलकल्पित* ही समझी जाती थीं। लोग उनके सत्य होने पर विश्वास नहीं करते थे। ऐसी आश्चर्यजनक बातों पर सहसा विश्वास होना है भी कठिन। पर उपर्युक्त घटनाओं पर अविश्वास नहीं किया

जा सकता। कारण यह है कि जिन लोगों ने उनका वर्णन किया है वे सब विश्वास्य व्यक्ति हैं।

बम्बई की जीव-जन्तु-इतिहास-सभा के अजायबघर के अध्यक्ष श्री एस० एच० प्रेटर उपरिलिखित घटनाओं की आलोचना करते हुए "स्टेट्समेन" नामक पत्र में लिखते हैं कि स्लीमन की बताई सभी घटनाएँ अवध प्रांत में हुई हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि उन दिनों अवध में भेड़ियों ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था और इनके द्वारा मनुष्यों की बहुत अधिक प्राणहानि होती थी। आँकड़ों से पता लगता है कि सन् १८६७ और सन् १८७३ के बीच भेड़ियों द्वारा मनुष्यों की प्राण-हानि की औसत १०० से भी अधिक प्रति वर्ष रही है। साधारणतः भेड़िये, बाघ, सिंह और चीते मनुष्य का शिकार नहीं करते। मनुष्य के शिकार का स्वभाव इनको कई कारणों से पड़ जाता है, जैसे कि उनके स्वाभाविक खाद्य का अभाव, और अपने बच्चों के लिए भोजन प्रस्तुत करने की भीषण आवश्यकता, घाव या दूसरी आवश्यकताएँ, या मनुष्य की हत्या का कोई संयोग। इनमें से किसी एक या अनेक कारणों से भी जन्तु मनुष्य पर आक्रमण करता है। इसके बाद उसे पता लग जाता है कि मनुष्य का शिकार सब से आसान है। मनुष्य-पक्षी या जन्तु के बच्चे को अभ्यास से और माता-पिता के उदाहरण से मनुष्य के शिकार का स्वभाव हो जाता है। वह मनुष्य को अपना स्वाभाविक शिकार समझने लगता है और अपनी क्षमता के अनुसार मनुष्य के बच्चे या बड़े आदमी को उठाकर ले जाता या मार कर खा लेता है। इस प्रकार हो सकता है कि जन्तु में यह स्वभाव प्रतिष्ठित हो जाय। इससे किसी विशेष प्रदेश या क्षेत्र में भेड़ियों द्वारा मनुष्यों के मारे जाने या उठा कर ले जाने की घटनाएँ बार-बार होने लगती हैं। शायद

यही कारण है जो भारत के विशेष ज़िलों या स्थानों में भेड़ियों के उत्पात से कई वर्ष तक मनुष्यों की प्राण-हानि होती रही है। अवध प्रान्त में विशेष काल-खण्डों में भेड़ियों द्वारा जो नर-नाश होता रहा है, और उपरिलिखित घटनाएँ हुई हैं, उसका कारण भी यही है।

जिन बच्चों को भेड़िये उठाकर ले गये, उनमें से अधिकांश को वे निःसन्देह मार कर खा गये। जिन थोड़ों का ऊपर उल्लेख हुआ वे कैसे बच गये? उनको भेड़िये ने मार कर क्यों नहीं खा लिया? इसका कारण संभवतः यह जान पड़ता है कि जिस समय कोई मादा-भेड़िया किसी मनुष्य के बालक को उठा कर ले गई, उस समय उसके अपने पिल्ले किसी कारण उससे छिन गये या मर गये थे और उसके थनों में दूध ज़ोर मार रहा था। अपने शिकार, अर्थात् उठा कर लाये हुए मनुष्य के बालक को स्तन पिलाने से उसे आराम और उसकी मातृत्व-प्रेरणा को बाहर निकलने का मार्ग मिल जाता था। विपत्ति में कभी-कभी साँप और मनुष्य तक इकट्ठे मिल जाते हैं। नदी की बाढ़ में अनेक बार मनुष्य और चीता एक ही पेड़ पर बैठे पानी में बहते देखे गये हैं। कारावास में कुतिया सिंह के बच्चे को दूध पिलाती देखी गई है। साथ ही वह सिंह से बच्चा उत्पन्न कर देती है। कुछ वर्ष हुए कराची के चिड़ियाघर में एक सिंहनी रही। जब वह मर गई तो उसके दो बच्चों को एक बकरी अपना स्तन पिलाती थी। ये बातें केवल मातृत्व-प्रेरणा से होती हैं। वह जब प्रचण्ड होती है तो स्वाभाविक वैर-भाव को भी दबा देती है।

स्वाधीनता

(श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति)

स्वाधीनता शब्द का अर्थ न्यूनाधिक सभी समझते हैं। यह एक ऐसा शब्द है, जो लोक-व्यवहार और शास्त्रीय विचार में समान रूप से प्रयुक्त किया जाता है, इस कारण इसका अर्थ समझना कठिन नहीं है। पहाड़ी स्रोत का पानी सामने रुकावट आ जाने के कारण रुक जाता है और इकट्ठा होने लगता है। हम कहते हैं कि पानी बन्ध गया। पानी के ज़ोर से या किसी इंजीनियर के उद्योग से रुकावट हटा दी जाती है, जल बिना किसी रुकावट के बहने लगता है, तब हम कहते हैं कि पानी स्वाधीनता से बहने लगा है। रुकावट के अभाव का नाम स्वाधीनता है। बग़ैर किसी प्रतिबन्ध के विचरने की शक्ति स्वाधीनता के नाम से पुकारी जाती है। हवा खुली चलती है, इसका दृष्टान्त देकर हम प्रायः कहते हैं कि वह 'हवा की तरह' स्वाधीन है। हवा की स्वाधीनता का यही अभिप्राय है कि उसकी गति न दीवार से रुकती है और न पर्वत से। उसे न सविस्तृत जङ्गल रोक सकता है और न मरुस्थल* । जब हम घोड़े को खूँटे से खोल देते हैं, तो वह घास खाने के लिए स्वाधीनता से विचरने लगता है। क़ैदी क़ैद से छूटकर कहता है कि—"आज मैं स्वाधीन हुआ"। इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि बन्धन या रुकावट के बिना कार्य करने की शक्ति का नाम स्वाधीनता है।

शायद कोई भी सत्य इतना स्पष्ट नहीं है, जितना यह कि मनुष्य स्वभावतः बन्धन से छूट कर स्वाधीन होना चाहता है। वह अपनी इच्छा से जो चाहे करे; परन्तु परवश होने में वह दुःख अनुभव करता है। मनुष्य तो विवेकशील* प्राणी है; जो

पशु-पक्षी विवेक नहीं रखते और केवल आन्तरिक प्रतिभाव से संचालित होते हैं, वे भी जंजीर, पिंजरा या जंगले को तोड़ कर भागना चाहते हैं। मनुष्य यह मंज़ूर करता है कि जंगलों में भूखा भटकता फिरे, प्राणों को संशय में डाल दे, परन्तु जान-बूझ कर चेतन शक्तियों के साथ जेल की या क़िले की दीवारों में बन्द रहना पसन्द नहीं करता। रुकावट से मनुष्य को स्वाभाविक घृणा है। स्वाधीनता से तो मृत्यु भी बुरी नहीं लगती। यदि लगती, तो कोई आत्म-हत्या न करता। आत्म-हत्या करने वाला मनुष्य थोड़ी देर के लिए यही समझने लगता है कि वह मृत्यु द्वारा ही दुःखों से छूट सकता है। उस समय वह आत्म-हत्या में रुकावट डालनेवाले को अपना शत्रु समझने लगता है। अपनी स्वाधीन इच्छा से बुलाई हुई मृत्यु भी मनुष्य को सुखकारी प्रतीत होती है। स्वाधीनता की अभिलाषा मनुष्य-हृदय के पोरे-पोरे* में बसी हुई है।

यदि उपर्युक्त दोनों स्थापनाएँ सत्य हैं तो एक तीसरी स्थापना का सत्य होना आश्चर्य में डालनेवाला प्रतीत होगा, परन्तु फिर भी उसकी सत्यता में सन्देह नहीं। वह स्थापना यह है कि पूरी तरह से स्वाधीन कोई भी नहीं। जड़-जगत् में हो, या चेतन-जगत् में, कोई ऐसी वस्तु दिखाई नहीं देती जो दूसरे पर सर्वथा अवलम्बित न हो। कहीं-न-कहीं, बहुत दूर, उसका दूसरी शक्तियों पर अवलम्बन होगा ही। संसार में सबसे अधिक स्वाधीन चीज़ वायु को समझा जाता है। "वायु की तरह स्वाधीन" यह एक मुहावरा-सा बन गया है परन्तु क्या वायु सर्वथा स्वाधीन है ? नहीं। विज्ञान बतलाता है कि उसकी गति सूर्य, समुद्र, सर्दी, गर्मी और ऋतुओं के अधीन है। जंगलों में जो पक्षी स्वाधीनता से विचरते हैं, उन्हें भी एक-दूसरे से बचना पड़ता है, क्योंकि वहाँ भी "जीवो जीवस्य

भोजनम्'' का नियम बहुत ज़ोर से चलता है। फिर जीवन और मृत्यु के नियम उन पर लगते ही हैं। क़ैद से छूटा हुआ क़ैदी राजनियमों से तो फिर भी बन्धा ही रहता है। स्वाधीन से-स्वाधीन देश के क़ैदी को कपड़ा पहनने तथा अन्य सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों में तो बन्धा ही रहना पड़ता है। सारांश यह कि जहाँ प्राणिमात्र को स्वाधीनता बहुत प्यारी है, वहाँ पूर्ण स्वाधीनता का प्राप्त करना सर्वथा असंभव प्रतीत होता है, क्योंकि इस पेचीदा संसार में किसी प्रकार का जीवन भी सर्वथा अलग-अलग रहकर नहीं बिताया जा सकता। प्रकृति के नियम, सोसाइटी के बन्धन और व्यक्ति की परिमित शक्तियाँ उसे पूर्णतः स्वाधीन होने से रोकती हैं।

किन्तु, मनुष्य इन तीनों रुकावटों पर हावी होने के लिए प्रयत्न करता आ रहा है, और अब भी कर रहा है। प्रकृति के रहस्यों को जानकर, उन्हें वश में लाने की चेष्टा विज्ञानवेत्ता बराबर कर रहे हैं। मनुष्य चाहता है कि वह प्रकृति की मौज का शिकार न रहे, अपितु उसके नियमों को समझ कर दैवी आपत्तियों* से बच सके और प्राकृतिक शक्तियों को अपना गुलाम बना सके। विज्ञान और शिल्प की उन्नति का यही रहस्य है। मनुष्य प्रकृति की गुलामी से छूटकर स्वाधीन होना चाहता है। भौतिक उन्नति की सबसे उत्तम यही व्याख्या है। वह कभी प्रकृति के शिकंजे से सर्वथा छूट सकेगा या नहीं, यह बिल्कुल दूसरा प्रश्न है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के मस्तिष्क ने पंचभूतों के साथ जो लड़ाई लड़ी है, उसका उद्देश्य प्रकृति की रुकावटों से छूटने और उसकी मन-मौज का शिकार बनने से बचने की चेष्टा है।

इसी प्रकार मनुष्य ने सोसाइटी के बन्धनों से छूटने की जो चेष्टा की है, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति के

इतिहास उससे भरे पड़े हैं। वह दबाव जो मनुष्य की बढ़ती को रोकता है, धर्माचार्यों की ओर से आये या बिरादरी की ओर से, वह एक राजा की ओर से आये या किसी गुट्ट की ओर से, किसी-न-किसी दिन मनुष्य के लिए असह्य हो जाता है, और तब स्वाधीनता के संग्राम का प्रारम्भ होता है।

इसी प्रकार व्यक्ति की उन्नति की तह में यही नियम काम करता है कि मनुष्य अवस्थाओं का गुलाम न बनकर उन पर काबू पाना चाहता है। व्यक्ति अपनी मानसिक तथा शारीरिक उन्नति के लिए चेष्टा करता है, ताकि वह इच्छापूर्वक उन्नति कर सके, वह सुख की सामग्री का स्वामी बन सके, वह असली अर्थों में स्वतन्त्र कर्ता बन सके।

सारांश यह है कि संसार में जिसे उन्नति कहते हैं, वह मनुष्य-जाति की जड़ और चेतन बन्धनों से छूटकर स्वाधीन होने की इच्छा का परिणाम है। संसार-चक्र के उतराव-चढ़ाव में यदि एक चीज स्थिर रूप से विद्यमान है तो वह मनुष्य की यह चेष्टा है कि वह स्वतन्त्र कर्ता बन सके। उन्नति का बीज यही है।

पूर्ण स्वाधीनता एक लक्ष्य है, जो इस समय कहीं विद्यमान नहीं है। मनुष्य व्यक्ति रूप में तथा समूह रूप में उस ओर जा रहा है। उसी यात्रा का नाम उन्नति है। बन्धनों से ऊँचे उठने की स्वाभाविक इच्छा ही उन्नति का बीज है। मनुष्य-जाति की स्वाधीन होने की चेष्टा का इतिहास ही वस्तुतः उन्नति का इतिहास है।

शायद हमारे अब तक के विवेचन से भ्रम हो कि हम केवल व्यक्ति की स्वाधीनता का गुणगान कर रहे हैं, और व्यक्तिवाद (Individualism) का समर्थन कर रहे हैं। इस भ्रम के निवारण का अवसर आ गया है। हमें अब स्वाधीनता सम्बन्धी सिद्धान्त का कुछ अधिक गहरा विवेचन करना चाहिए।

प्रत्येक पदार्थ स्वयं एक इकाई होता हुआ एक बड़े गिरोह का अंग है। ईंट स्वयं एक वस्तु है, परन्तु वह दीवार का हिस्सा है, दीवार एक मकान का, मकान एक शहर का, शहर एक सूबे का और सूबा एक देश का भाग है। वह देश भी भूमण्डल का और भूमण्डल इस विश्व का छोटा-सा अवयव है। जैसे हम पहले देख आये हैं, संसार का जड़ या चेतन कोई भी पदार्थ सर्वथा स्वाधीन नहीं हो सकता। इसका दृष्टान्त लीजिए।

हमने कहा है कि मनुष्य अपनी स्वाधीन इच्छानुसार काम करना पसन्द करता है। देवदत्त चाहता है कि वह यज्ञदत्त के खेत को काट ले। वह दूसरे के माल पर कब्ज़ा कर लेने की स्वाधीनता चाहता है। दूसरी ओर यज्ञदत्त अपने खेत के साथ ही साथ देवदत्त के मकान पर अधिकार जमाना चाहता है। वह अपनी स्वाधीन इच्छा का प्रयोग इसी प्रकार करना चाहता है। देखने में दो स्वाधीनताएँ टकरा गईं। इस टक्कर को यदि नियमपूर्वक वश में नहीं किया जायगा, तो दिन-रात लठ्ठ बजेगा और यह समाज दंगल बन जायगा। कुछ दूर तक समाज दंगल बना हुआ है भी। सबको प्रतिबन्ध-हीन* व्यक्तिगत स्वाधीनता देने का परिणाम समाज के नाश के सिवा कुछ नहीं हो सकता।

व्यक्तियों की स्वाधीनता में इस कुपरिणाम की आशंका इस कारण पैदा होती है कि हमने व्यक्तिगत स्वाधीनता की आवश्यक शर्त को ध्यान में नहीं रखा। विश्व का कल्याण केवल एक व्यक्ति की स्वाधीनता से नहीं होगा, अपितु विश्व-भर के व्यक्तियों की स्वाधीनता से होगा। तब तो किसी एक व्यक्ति की स्वाधीनता का वहीं तक फैलाव होना चाहिए, जहाँ तक दूसरे व्यक्ति की स्वाधीनता का प्रारंभ नहीं होता। देवदत्त की स्वाधीनता यज्ञदत्त की स्वाधीनता को नहीं काट सकती। देवदत्त को कोई अधिकार नहीं कि वह अपनी स्वाधीनता का उपयोग करने

के लिए यज्ञदत्त की स्वाधीनता का नाश करे। देवदत्त को अपनी सम्पत्ति के उपभोग का और उसे विधिपूर्वक बढ़ाने का पूर्ण अधिकार है, और यही अधिकार यज्ञदत्त को भी है।

किसी व्यक्ति को वहीं तक स्वाधीनता प्राप्त है, जहाँ तक वह किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तिसमूह की स्वाधीनता में विघ्नकारी* न हो। यह स्वाधीनता की सीमा है। जो सीमा का उल्लंघन कर जाय, वह स्वाधीनता नहीं, उच्छृङ्खलता* है। जो सब पर लागू न हो सके, वह जगत् का न्यायी नियम नहीं हो सकता। इस सीमा की रक्षा के लिए ही मनुष्य-समाज में 'राज्य' और 'राजनियम' की उत्पत्ति हुई है।

परन्तु समाज व्यक्ति को कुचल नहीं सकता। सामाजिक और राजनियमों का उचित लक्ष्य यही है कि वे व्यक्तियों की और साथ-ही-साथ समाज की स्वाधीनता व उन्नति के सहायक हों। जो बाधाएँ उपस्थित हो रही हों, उनका निवारण करें और व्यक्तियों के परस्पर संघर्ष को रोकें। व्यक्ति पहले हैं, समाज पीछे। व्यक्ति इकाई है समाज इकाइयों का जोड़। यदि व्यक्ति न हो तो जातियाँ न बनें। परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि यदि समाज के नियम न हों तो व्यक्ति भी जीवित न रह सके। सब एक-दूसरे को नोच खायँ। मनुष्य के अन्दर दो भावों का मिश्रण है। वह अपने अलगपन को रखना चाहता है, इसे उसका व्यक्ति-प्रेम कह सकते हैं। परन्तु वह अपने जैसे दूसरों से मिलना भी चाहता है, यह उसका समाज-प्रेम है। मनुष्य सामाजिकता और असामाजिकता का अद्भुत मिश्रण है। दोनों ही भाव संसार की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। यदि आत्म-प्रेम या व्यक्ति-प्रेम बिल्कुल जाता रहे, तो व्यक्ति का नाश होकर समाज स्वयं ही नष्ट हो जाय; और यदि व्यक्तियों की सामाजिकता सर्वथा नष्ट हो जाय तो इस पृथ्वी पर सर्वत्र लाशें-ही-लाशें

दिखाई दें। सामाजिकता और असामाजिकता के ठीक मिश्रण से ही विश्व चल रहा है। उसके उत्तम रीति से चलने के लिए आवश्यक है कि सब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए समाज की सीमाओं का पालन करें, और समाज वहीं तक व्यक्तियों पर शासन करे जहाँ तक व्यक्तियों की स्वाधीन उन्नति में बाधा न पड़े। व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचल कर समाज भी जीवित नहीं रह सकता। कच्ची ईंटों से कभी पक्की दीवार नहीं बन सकती। जिसके स्नायु निर्बल हैं, वह शरीर अखाड़े में उतरने योग्य नहीं हो सकता। समाज का लक्ष्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व की रक्षा करना है, उसका मान-मर्दन* करना नहीं।

इस समय राजनीतिक तत्वज्ञान में व्यक्तिवाद (Individualism) और समष्टिवाद (Socialism) में परस्पर विरोध समझा जाता है। वह विरोध क्रिया रूप में भी परिणत हो रहा है। योरुप के प्रत्येक बड़े देश में व्यक्तिवाद और समष्टिवाद का संघर्ष हो रहा है। किसी देश में एक सिद्धांत के अनुयायी प्रबल हैं तो किसी में दूसरे के। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व इंग्लैंड और उसके कई राजनीतिक चेले व्यक्तिवाद के कट्टर अनुयायी बने हुए थे, और स्वतन्त्र व्यापार, व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्य और खुली प्रतियोगिता को ही अपनी बाईबल मानते थे। इधर रूस ने समष्टिवाद को राजधर्म और व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में गद्दी पर बिठा दिया है। इसका मुख्य पहलू समाज का आर्थिक संगठन है। दूसरा पहलू मनुष्य की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखता है। व्यक्तिवाद के अनुयायी यह दावा करते हैं कि वे व्यक्ति की स्वाधीनता के समर्थक हैं और समष्टिवादी उसके विरोधी हैं। दूसरी ओर समष्टिवादियों की यह घोषणा है कि एक मनुष्य की स्वाधीनता तभी सुरक्षित रह सकती है जब समाज व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो; और

समाज उसी व्यक्ति की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो सकता है, जो समाज-हित में अपने हित को शामिल करने के लिए उद्यत हो। जो समष्टिवाद व्यक्ति के अस्तित्व का नाश करके समाज को बनाना चाहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। रूस में समष्टिवाद की जितनी सफलता प्रतीत होती है, उसका कारण यही है कि लेनिन के समष्टिवाद ने परिश्रम करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्वाधीन और उन्नत बना दिया है। जो शासन या व्यापार का संगठन व्यक्तियों की शक्तियों को कुचल देता है वह बालू पर बनी भीत की भांति शीघ्र ही बैठ जाता है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज मिलकर, एक-दूसरे के सहायक बनकर ही उन्नति कर सकते हैं, परस्पर विरोधी बनकर नहीं।

यदि सब कुछ उसी तरह चले, जैसे चलना चाहिए, तो संसार में सब स्वाधीन-ही-स्वाधीन दिखाई दें, क्योंकि हम देख चुके हैं कि स्वाधीनता सभी को प्यारी है। परन्तु जब मनुष्य एक-दूसरे के सम्बन्ध में आते हैं—अर्थात् व्यक्ति समाज में प्रवेश करता है, तो एक की जगह उसकी दो विशेषताएँ उद्भूत हो जाती हैं। वह अपनी अलग हस्ती रखना चाहता है, परन्तु साथ ही समाज की ओर खिंचता भी है। उसे हम असामाजिक सामाजिकता या सामाजिक असामाजिकता कह सकते हैं। मनुष्य सुखी होना चाहते हैं, परन्तु औरों की अपेक्षा से। व्यक्ति बड़ा बनना चाहता है, परन्तु दूसरों की ऊँचाई नाप कर। वह समाज में रहकर ही समाज के ढंग पर और समाज की दृष्टि में ऊँचा और सुखी होना चाहता है। वह समाज में रहता हुआ, समाज से जुदा हस्ती रखना चाहता है। यहीं आकर स्वाधीनता में बाधाएँ पड़ती हैं। व्यक्ति और समाज की आपस की क्रिया-प्रतिक्रिया* से मनुष्य-समाज का इतिहास बनता है।

दासता के कई कारण हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा बलवान् है। वह उस पर अधिकार जमा लेता है। यह व्यक्ति की दासता है। समाज का एक भाग गिरोह बनाकर, शस्त्रों की सहायता से या छल से, दूसरे भाग पर काबू पा जाता है। यह सामाजिक दासता है। दासता के प्रकारों की विवेचना में हम नहीं जाना चाहते। हमें केवल यहाँ इतना दिखाना है कि किसी व्यक्ति या जाति की स्वाधीनता की उलटी दासता और दासता की उलटी स्वाधीनता है।

यहाँ रहस्य की यह बात कह देनी आवश्यक है कि दासता एक भावरूपी वस्तु है और स्वाधीनता अभावरूपी। जैसे दुःख एक भावरूपी वस्तु है और दुःख के अभाव का नाम सुख है, उसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक परिस्थिति तो स्वाधीनता कही जाती है, परस्पर बन्धन पड़ने से दासता का जन्म होता है। बन्धन के हटने ही से फिर स्वाधीनता का राज्य हो जाता है। रूसो के इस कथन का कि "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है", यही अभिप्राय है।

हमने दासता और स्वाधीनता दोनों के स्वरूप और परस्पर संबन्धों का विवेचन कर लिया। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष* यह है कि मनुष्य-जाति की उन्नति तभी संभव है जब उसे विकास की स्वाधीनता मिल जाय। विकास की स्वाधीनता के मार्ग में जो विघ्न उपस्थित होते हैं, वे दासता के नाम से पुकारे जाते हैं। दासता की फ़ौलादी जूती पाँव से उतारे बिना व्यक्ति या जाति के पाँव आगे बढ़ने योग्य नहीं हो सकते। दासता का शिकंजा मज़बूत हो जाने पर प्रायः मनुष्य के हृदय में एक झुंझलाहट पैदा होती है, जो उसे कहती है कि तू इस शिकंजे में से निकल। यदि शिकंजा अभी बहुत मज़बूत नहीं हुआ, तो वह थोड़े परिश्रम से टूट जाता है, परन्तु यदि दासता के बन्धन

बहुत दृढ़ हो चुके हैं, तो मनुष्य को व्यक्तिरूप में या समष्टिरूप में एक हलचल पैदा करनी पड़ती है और उसी का नाम है क्रान्ति, जो व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत जीवन की रूढ़ियों और कमजोरियों को हटाकर उसमें स्वाधीनता का प्राण फूँक देती है।

विज्ञान

(श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

जो गत शताब्दी के विज्ञान का इतिहास जानते हैं, उन्हें ज्ञात है कि विश्व के सभी तत्त्वों का संग्रह करने के लिए योरुप ने कितनी चेष्टा की है। पदार्थ-विज्ञान से मनो-विज्ञान और मनो-विज्ञान से मानव-विज्ञान और समाज-विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। मनुष्य-जाति का आदि और अन्त, उसकी सभ्यता का लक्ष्य तथा उसके सभी ज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध, आदि सभी विषयों की आलोचना कर मनुष्य थक-से गये हैं। संसार की बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी वस्तु का संग्रह कर मनुष्य ने अपने ज्ञान के क्षेत्र को खूब विस्तृत कर लिया है। विज्ञान की इसी चेष्टा से साहित्य, दर्शन आदि शास्त्रों ने भी प्राचीन रीति को छोड़कर वैज्ञानिक रीति का ही अवलम्बन* किया है। जगत्, आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में जिन धारणाओं को भ्रमशून्य मानकर दर्शन-शास्त्र ने अपने तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया था, उनके भी मूलसिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब लोग संशयालु हो गये हैं। साहित्य में मनो-विज्ञान ने मनुष्य के अन्तर्जगत् का रहस्योद्घाटन* किया है। भिन्न-भिन्न कालों में मनुष्य का मन एक ही संस्कार को कितने ही नवीन रूपों में देखता है। प्रत्येक मन एक स्वतन्त्र

जगत् ही है। इसलिए अब मूलसिद्धान्तों की विवेचना कर भिन्न-भिन्न तत्वों की रचना करने की ओर दर्शन-शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं है। अब वैचित्र्य में ही एकता का अनुसंधान करने में दर्शन अपनी कृतकृत्यता समझता है।

योरुप में विज्ञान की उन्नति के साथ-ही-साथ दार्शनिक मत में परिवर्तन हुए। इस से प्राचीन धर्म-विश्वास शिथिल होने लगा। हर्बर्ट स्पेंसर ने संशय-वाद का उपक्रम किया। वहिर्जगत् के साथ अन्तर्जगत् का समन्वय स्थापित करने का फल यह हुआ कि मन के सभी संस्कार वर्जित हो गए। वैज्ञानिक उन्नति के द्वारा मनुष्य के धर्म-भाव पर इतना घोर आघात हुआ कि नीति, कला और साहित्य, सभी में संशय-वाद की प्रधानता हो गई।

यह तो सर्वमान्य है कि विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-सी भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं। यातायात के साधनों में रेलवे, स्टीमर, हवाई जहाज़ आदि के आविष्कारों से विस्मयजनक उन्नति हुई है। टैलीग्राफ़, टेलीफ़ोन और बेतार-के-तार द्वारा घर बैठे हज़ारों-लाखों कोसों की दूरी पर रहने वाले मित्र के समाचार क्षण भर में ज्ञात हो जाते हैं। मुद्रण-कला के महत्वपूर्ण आविष्कार के द्वारा विद्या-प्रचार में बड़ी भारी आसानी हो गई है। डाक्टरों ने वैज्ञानिक रीति से सर्जरी-विद्या सीखकर मनुष्य को भीषण यातनाओं* से बचा लिया है। विज्ञान की सहायता से बहुत से रोगों की अव्यर्थ औषधियाँ ढूँढ निकाली गई हैं, जिनको मनुष्य पहले सर्वथा असाध्य समझा करते थे। वैज्ञानिक युग से पहले बहुत-से संक्रामक* रोगों का कारण भूत-बाधा ठहराई जाती थी, अतएव लाचार होकर रोगी को असह्य वेदनाएँ सहनी पड़ती थीं। इस क्षेत्र में भी विज्ञान ने हमारा बड़ा भारी उपकार किया है। दूसरी ओर

कल-कारखानों के आविष्कार से नाना प्रकार की शिल्पोन्नति होने के कारण आज जीवन बहुत ही सुखमय हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस फूल में काँटे की भाँति पूँजीवाद का जन्म हुआ है, जिसके कारण पूँजीपतियों ने श्रम-जीवियों का खून चूसना अपना धर्म समझ रखा है। सच पूछा जाय, तो कभी-कभी हमको इस विज्ञान-वाटिका में फूलों की महक से उतना आनन्द नहीं मिलता, जितना इन तीखे काँटों का डर लगा रहता है। ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि पूँजी-प्रधान शिल्पवाद ने इस भूतल पर प्रकाश्य अथवा अप्रकाश्य रूप से अनेक युद्ध ठान दिये हैं; अनेक पिछड़े हुए देशों को दासता और अत्याचार की भयंकर बेड़ियों से जकड़ दिया है। विज्ञान ने मनुष्य की उत्पादक शक्ति के साथ विघातक शक्ति को भी सैंकड़ों गुणा बढ़ा दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि विज्ञान के दुरुपयोग से जो बुराइयाँ फैल रही हैं, उनके लिए विज्ञान उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, या नहीं? क्या आग इसीलिए बड़ी बुरी चीज़ है कि उसके द्वारा बहुत-से दुष्टात्मा ग़रीबों के घर फूँक डालते हैं? जल्लाद की तलवार, डाक्टर का नश्तर और मिस्त्री का हथौड़ा, सभी एक लोहे के बने होते हैं। इसलिए क्या कोई लोहे को बुरा कह सकता है? यदि जल्लाद अपनी तलवार से दूसरे की गरदन काटता है, तो उसमें लोहे का क्या दोष? इसके अतिरिक्त विज्ञान तो पूँजीवाद की बुराइयाँ दूर करने के लिए अनेक उपायों—जैसे सहयोग या लाभ-वितरण आदि—का अवलंब ले रहा है, जिससे आशा की जाती है कि धीरे-धीरे ये बुराइयाँ जाती रहेंगी। विज्ञान यह सिद्ध करना चाहता है कि वैज्ञानिक पूँजी-प्रधान शिल्पवाद और मनुष्यों के पाशविक अत्याचार में कोई वास्तविक अनिवार्य संबन्ध नहीं है।

संप्रति हमको यह देखना है कि विज्ञान ने मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं डाली है, और वह यदि सहायक हुआ है, तो कहां तक? सबसे पहले विज्ञान ने मनुष्य को 'सत्य के लिए सत्य की खोज' करना सिखा दिया है। विज्ञान ने हमको यह पाठ पढ़ा दिया है कि एक ही नियम इस अनंत ब्रह्मांड में व्याप्त है। विज्ञान ने मनुष्य को उस ईश्वर के दर्शन और अनुभव करने की शक्ति दी है, जिसकी इच्छा और ब्रह्मांड की घटनाओं में सर्वथा एकता है। विज्ञान के कारण हमारे अंत:करण से उस ईश्वर की प्रतिष्ठा हटती जाती है, जो मनमाने खेल-तमाशे किया करता था, जो सांसारिक प्राणियों की तरह राग-द्वेष या हर्ष-शोक के झंझट में फँसा रहा करता था। विज्ञान ने मनुष्य के सामने ब्रह्मांड की अनंतता खोल कर रख दी है। इस अनन्त ब्रह्मांड में उसकी और उसके झोंपड़े की क्या स्थिति है, इस पर विचार करते ही उसका अज्ञान-जनित मिथ्या गर्व चकनाचूर हो जाता है। साथ ही विज्ञान ने यह बतलाकर मनुष्य के सच्चे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की नींव डाल दी है कि मनुष्य किस अवस्था से उन्नत होकर किस अवस्था में पहुँच गया है। वह पशु-कोटि से उठकर मनुष्य-कोटि में किस प्रकार पहुँचा है। विज्ञान ने अनेक प्रकार के दु:खों का विश्लेषण* किया है। उससे मनुष्य को विज्ञानातीत धार्मिक व्याख्याओं की अपेक्षा आशावादी बनने में अधिक सहायता मिलती है। किसी वैज्ञानिक ईश्वरवादी को वैसी घबराहट कदापि नहीं हो सकती, जैसी कूपर-सरीखे धर्मनिष्ठ विद्वान् को स्वेच्छाचारी ईश्वर से हुआ करती थी।

सिद्धांत के अतिरिक्त व्यवहार में भी विज्ञान सार्वभौमिक कार्यों के संचालन में सहायता कर रहा है। विज्ञान ने उन सैकड़ों अभागे निस्सहाय प्राणियों का जीवन सार्थक बना दिया

है, जो पृथ्वी पर भाररूप समझे जाते थे। पहले हम अंधे, लूले, लँगड़े आदि को भोजन-वस्त्र देकर ही संतुष्ट हो जाते थे। इतनी ही हमारी सामर्थ्य थी। किन्तु आज वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा हम उनको शिक्षा दे सकते हैं, जिससे वे केवल रुपया ही नहीं कमा सकते, वरन् हमारे समाज के उत्साही और उपयोगी अंग बन जाते हैं।

यातायात*, पत्र-व्यवहार या समाचार-वितरण के उन्नत साधनों का भी भौतिक सुविधा के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक पहलू है। संसार-भर के मनुष्य परस्पर भाई-भाई हैं, यह उच्च सिद्धांत अभी तक सिद्धांत मात्र था; किन्तु विज्ञान को इतने से संतोष नहीं हो सकता। वह इन साधनों के द्वारा यह दिखलाना चाहता है कि वास्तव में संसार एक बड़ा भारी कुटुंब है।

यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुन्दर और श्रेयस्कर* दिखाई दे रहा है, वह सब मनुष्य की आत्मा से ही प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रत्येक अंग—शासक और शासित, मंदिर और मसजिद, शिल्प और कला, पूँजी और मशीन, सभा और संगठन आदि—का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं। मनुष्यों ही ने पुराणों की रचना की है। मनुष्यों ने ही धर्म चलाये हैं। मनुष्यों ने ही स्वर्ग और नरक की सृष्टि की है। कुरान, बाइबल और गीता भी उन्हीं की उपज है। ब्रह्मा, विष्णु से लेकर भूत-प्रेत तक सभी उसकी आत्मा से प्रकट हुए हैं। यह तो सच है कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है; किन्तु आजकल बहुत-से मनुष्य यह भी कहने लगे हैं कि नहीं, मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है। कुछ भी हो, मनुष्य के लिए सबसे अधिक गौरव की बात यह है कि उसने अपने आपको जंगली पशुओं की श्रेणी से उठाकर मनुष्य बना लिया है। सैकड़ों वर्षों तक तो उसे यही संदेह रहा होगा कि वह कभी

'अशरफुल मखलूकात* हो सकेगा, या नहीं। किन्तु उसने धीरे-धीरे विजय पाई, संसार में अपने अनुकूल आसन ग्रहण किया, और वह ईश्वर की सृष्टि का उत्तराधिकारी बन गया। उसने इतने से ही बस नहीं की, किन्तु साहित्य, विज्ञान, शिल्प और कला में भी आश्चर्यजनक उन्नति की। यदि वह इस समय अपने साहस और विचार के लिए गर्व करता है, तो उसकी साधारण परम्परा को देखते हुए कोई उसे उद्दंड नहीं कह सकता। वास्तव में हीगल का यह कथन सर्वथा सत्य है कि भविष्य में ऐसा समय कभी नहीं आवेगा, जब मनुष्य का यह उचित गर्व मिथ्या अहंकार गिना जा सके।

किन्तु क्या कभी यह संभव है कि वह प्राणी, जिसका विकास ऐसी नम्र स्थिति से हुआ हो, जिसकी प्रगति कभी निम्नगामिनी* न हुई हो, वरन् वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ-काल तक बराबर उन्नति के पथ पर अग्रसर होती रही हो, क्षणिक पराजय से एकदम हताश होकर एकाएक अनन्त के गर्भ में विस्मृत हो जाय ? हमारी वर्तमान कठिनाइयों और बाधाओं का हेतु हमको उत्तरोत्तर परिपक्व अवस्था में पहुँचाने के अतिरिक्त भला और क्या हो सकता है ? भूतकाल में क्या हमारे मार्ग में बाधाएँ नहीं उपस्थित हुई थीं, क्या उन पर हमारी विजय नहीं हुई है, और क्या इन पर हमारी विजय न होगी ? यह सिद्ध हो चुका है कि संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उन सब में हमारी आत्मा सबसे अधिक दुर्दमनीय और अजेय है। यदि किसी को यह दृढ़ विश्वास है कि हमारा वर्तमान इतिहास केवल भूमिका मात्र है, भविष्य इससे कहीं अधिक जाज्वल्यमान* होगा, तो क्या वह कोरा आशावादी कहा जा सकता है ? एक दिन था, जब मनुष्य वन्दर के समान था, और एक दिन वह आवेगा, जब मनुष्य देवताओं की कोटि में पहुँच जायगा।

दी है। आज भी बहुत-से नवयुवकों के सामने अपने जीवन का धंधा निश्चित करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कहाँ मैं सबसे अधिक भलाई कर सकूँगा, चाहे मुझे वहाँ सबसे अधिक रुपया न मिले? स्त्रियों में, जिनके हाथ में आज शक्ति आ रही है, प्रेम का अनुभव करने की शक्ति पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव उनको संसार की अवस्था सुधारने के लिए उद्योगशील होना चाहिए। आजकल मनुष्य अपना पेट नहीं भरना चाहते, बल्कि अपना घर भरना चाहते हैं। इसी लालच और तृष्णा के कारण सैंकड़ों बुराइयाँ संसार में फैल रही हैं, स्वार्थ और मिथ्या अहंकार की बेहद वृद्धि हो रही है। स्त्रियों को ऐसे संकट के समय प्रेम और सेवा का आदर्श स्थापित करना चाहिए। इस वैज्ञानिक युग में ऐसा आविष्कार होना चाहिए, जिससे मनुष्य को अपनी प्रेम करने की शक्ति का यथार्थ अनुमान हो जाय। सभ्यता और शिक्षा का सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि मनुष्य की प्रेम-शक्ति संसार के सबसे अच्छे और सबसे ऊँचे पदार्थ में लगे, और उसको प्रेम की स्फूर्ति का अनुभव होने लगे। ऐसी अवस्था में आज जो हमारे नेता बने हुए हैं, वे नेता न रह जायँगे। प्रेम ही सदाचार की पराकाष्ठा* है। युद्ध की समाप्ति के लिए प्रेम ही सबसे अधिक उपयोगी है। आधुनिक बुराइयाँ दूर करने के लिए आजकल जो अनेक उपाय किये जा रहे हैं, प्रेम की स्थापना होने से उनकी यथार्थ जाँच हो जायगी। जो देखने ही के नहीं, वरन् सचमुच मनुष्य हैं, उनके अन्तःकरण में यह शक्ति अवश्यमेव किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। यदि उसको व्यक्त करने के लिए कोई सीधा मार्ग निकल आवे, तो फिर हमको किसी सुधार की आवश्यकता न रहेगी। इसी सिद्धांत के कारण आधुनिक अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र में बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

गत शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में कारलाइल और रस्किन के नाम खूब प्रसिद्ध हैं। उन्होंने आधुनिक व्यापार-पद्धति और संपत्तिशास्त्र पर जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे मनुष्यों की विचार-धारा ही बदल गई है। यह सच है कि पहले अपनी विलक्षणता के कारण वे लोगों को ग्राह्य प्रतीत नहीं हुए, परन्तु अपनी असाधारणता से ही उन्होंने लोगों के चित्त को आकृष्ट कर लिया, और अब सभी मननशील लोग यह समझ गये हैं कि उनके विचारों में सत्य का सूक्ष्म तत्व निहित है। सम्पत्ति-शास्त्र विज्ञान है—कम-से-कम उसका आदर्श ऐसा है कि वह विज्ञान के अन्तर्गत हो सकता है। रिकार्डो और जेम्स मिल संपत्तिशास्त्र के आचार्य हैं। उन्होंने उसकी जैसी विवेचना की है, उससे यही मालूम होता है कि संपत्तिशास्त्र का उद्देश्य उन सिद्धांतों और नियमों का क्रमबद्ध वर्णन करना है, जिनके आधार पर आधुनिक व्यापार-पद्धति स्थित है; अर्थात् अर्थ की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न व्यवसायशील जातियाँ जिन नियमों से मर्यादित* रहकर व्यावसायिक समर-क्षेत्र* में अवतीर्ण होती हैं, उनका स्पष्टीकरण ही संपत्ति-शास्त्र है। वह व्यवसाय के दाँव-पेचों का वर्णन करता है, उनकी धार्मिकता अथवा अधार्मिकता का निर्णय नहीं करता। इस शास्त्र के सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत ज्ञान सभी को है। मनुष्यों की सभी इच्छाएँ पार्थिवश्री के केंद्रीभूत होती हैं। मनुष्य को तभी सन्तोष होता है, जब कम परिश्रम से अधिक लाभ होता है। वह यही चाहता है कि सबसे सस्ता खरीदे, और सबसे महँगा बेचे। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की जैसी माँग और पूर्ति होती है, तदनुकूल उनका मूल्य निर्धारित होता है। संपत्ति-शास्त्र की दृष्टि में मनुष्य एक खरीदने और बेचनेवाली मशीन है, जो इसी तरह की अन्य मशीनों से लड़ती-झगड़ती रहती है। संपत्ति-शास्त्र का

अच्छा हो यदि श्री रामचन्द्र उस आज्ञा का उल्लंघन कर दें और अपने आप राज्य का कार्य सँभाल लें।

परन्तु श्री रामचन्द्रजी अपनी स्वाभाविक गम्भीर मुद्रा में स्थिर थे। उनकी मुख-श्री में कोई कुम्हलाहट नहीं आई। उन्होंने माता कैकेयी को हलकी-सी मुसकान से केवल इतना ही कहना पर्याप्त* समझा—"मुझे पिता जी की और आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं जीते-जी पिताजी के वचन को कभी झूठा न होने दूँगा। उनको मुझ पर पूर्ण अधिकार है। मैं अपने सुख-स्वार्थ की लालसा से कभी भी उनके इस अधिकार का तिरस्कार न करूँगा, न होने दूँगा। मैं पितृ-चरणों में समर्पित हो चुका हूँ। वे जहाँ चाहेंगे वहाँ रहूँगा और जो चाहेंगे, वह करूँगा। बस, मुझे अब जाने की अनुज्ञा दीजिए।"

इतना कहने के पश्चात् पिता तथा कैकेयी के चरणों में मस्तक झुकाकर श्री रामचन्द्र बाहर निकल गये।

माता कौशल्या ने प्रभात में श्री रामचन्द्र से यह समाचार सुना तो बौखला गई। उसने माता के अधिकार को पिता के अधिकार से गुरुतर बताते हुए स्नेहमयी प्रेरणा करनी चाही कि श्रीरामचन्द्र वन को जाने का विचार न करें। लक्ष्मण ने पिता की मोहभरी अवस्था तथा अपनी उग्र-बाहुता का संकेत करते हुए श्रीरामचन्द्र को उत्तेजित करके राज्य सँभालने के लिए तैयार करना चाहा। सीताजी ने उनके संग वन जाने का दृढ़ संकल्प प्रकट करते हुए, मानो, उन्हें वन जाने से रोकना चाहा। मन्त्रिमण्डल तथा प्रजामण्डल ने उनके प्रति अपनी पूर्ण भक्ति प्रकट करते हुए और महाराज दशरथ की इस आज्ञा की निन्दा करते हुए, मानो, उनके हाथ में राज-मुकुट सौंप देना चाहा। स्वयं भरत ने उनके पीछे अयोध्या में पहुँच कर यह घटना सुनी, तो अपनी माता की दुरिच्छा का अनादर करते हुए

दौड़े-दौड़े जाकर उन्होंने राज-सिंहासन पर, मानो, उन्हें बिठाना चाहा ही नहीं, वरन् बिठा भी दिया, क्योंकि वे स्वयं उस पर कभी न बैठने की धारणा पक्की कर ही चुके थे। अन्त में यदि श्रीरामचन्द्र महाराज दशरथ की आज्ञा का उल्लंघन करना चाहते, तो वे एक प्रकार से पिताजी की अप्रकट हार्दिक अभिलाषा को ही पूरी करते।

परन्तु नहीं, उनको तो वन जाने और चौदह बरसों तक उधर से न लौटने की धारणा बन चुकी थी। वे जानते थे कि महाराज दशरथ ने महारानी कैकेयी को विलास-भवन में नहीं, वरन् समर-भूमि में, और, उसके हाव-भाव पर मुग्ध होकर नहीं, वरन् उसकी अबला-दुर्लभ वीरता से प्रसन्न होकर ही दो वर प्रदान किये थे। यह एक प्रकार से पति-पत्नी के बीच में नहीं, वरन् सेनापति और उसके किसी योद्धा के बीच में हुई-हुई प्रतिज्ञा थी। इसका पालन केवल गृह-सुख की दृष्टि से ही नहीं, वरन् राज-व्यवस्था की दृष्टि से भी आवश्यक था। इसका पालन उस राज-सत्ता का दृढ़ आश्वासन-रूप आधार था, जिसकी वृद्धि के लिए ही आदर्श-राजा प्रजा-रञ्जनार्थ सिंहासन पर आरूढ़ होता है।

श्रीरामचन्द्र ऐसी प्रतिज्ञा को झुठलाकर राजा नहीं होना चाहते थे। वे अपना राजनीतिक श्रीगणेश स्वार्थ-मूलक असत्य व्यवहार द्वारा नहीं करना चाहते थे। कोई बात नहीं, वे राजा न बनें। कोई बात नहीं, वे वन में ही समाप्त हो जावें। परन्तु यह नहीं होगा कि वे अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य-भोग की लालसा से अपने इष्ट मित्रों तथा पारिवारिक जनों के स्नेह-पाश में बँधकर अपने रघुवंशी पूर्वजों के सत्य-प्रतिष्ठित सिंहासन पर असत्य-पोषक होकर बैठें। पिताजी नहीं बचेंगे; माताजी को बुढ़ापे में घोर दुःख रहेगा; भाई और पत्नी को मेरे लिए

न जाने क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ेंगे और स्वयं मुझ पर न जाने क्या बीतेगी—यह सब कुछ था, और वे इस काले बादल को अपने सामने स्पष्ट देख रहे थे। परन्तु क्षण-क्षण में उनकी ध्रुव-सम अन्तरात्मा का विद्युत् प्रकाश उस काले बादल को भी जाज्वल्यमान कर रहा था। राज्य श्रीरामचन्द्र के लिए नहीं था। वे राज्य के लिए थे। प्रजा के सेवक, पालक और शिक्षक बनकर राज-मर्यादारूपी धर्म के संस्थापन तथा राजमर्यादा-भंगरूपी अधर्म के नाश के लिए ही उनका अवतार हुआ था।

प्रतिवर्ष ही विजया अर्थात् विजयदशमी आती है और श्रीरामचन्द्र द्वारा किये गये अधर्म-नाश की वार्ता को हमारे स्मृति-फलक पर नये सिरे से अङ्कित करती हुई चली जाती है। परन्तु यह उससे भी कहीं अधिक ध्यान देने और स्मरण रखनेवाली वार्ता है कि अयोध्या-विजय की आधार-शिला उस समय रखी गई थी जब श्रीरामचन्द्र आत्म-विजयी होकर बनवास को निकल पड़े थे। आत्म-भूमि में धर्म-संस्थापन करना ही अधर्म-नाश के लिए योग्यता पैदा करना है। सच्ची आत्म-विजय ही इस धर्म-संस्थापन का द्वार है।

जो मनुष्य अपने कर्तव्यों की अधिक मीमांसा* करते हैं और अपने अधिकारों की कम रट लगाते हैं, वे अपने जीवन में अवश्य ही कुछ ठोस कार्य कर जाते हैं। प्रत्येक सच्चे राष्ट्र-सेवक की ऐसी ही मानसिक धारणा होती है और होनी भी चाहिए।

दीनों पर प्रेम

(श्री वियोगी हरि)

हम नाम के ही 'आस्तिक' हैं। हर बात में ईश्वर का तिरस्कार करके ही हमने 'आस्तिक' की ऊँची उपाधि पाई है। ईश्वर का एक नाम "दीनबन्धु" है। यदि हम वास्तव में आस्तिक हैं, ईश्वरभक्त हैं, तो हमारा यह पहला धर्म है कि दीनों को प्रेम से गले लगायें, उनकी सहायता करें, उनकी सेवा करें, उनकी शुश्रूषा करें, तभी ना दीनबन्धु ईश्वर हम पर प्रसन्न होगा ? पर ऐसा हम कब करते हैं ? हम तो दीन-दुर्बलों को ठुकराकर ही आस्तिक या दीनबन्धु भगवान् के भक्त बने बैठे हैं। दीनबन्धु की ओट में हम दीनों का ख़ासा शिकार खेल रहे हैं। कैसे अद्वितीय* आस्तिक हैं हम ! न-जाने क्या समझकर हम अपने कल्पित ईश्वर का नाम दीनबन्धु रखे हुए हैं, क्यों इस रद्दी नाम से उस लक्ष्मी-कान्त का स्मरण करते हैं ?—

दीननि देखि घिनात जे, नहि दीननि सों काम।
कहा जानि के लेत हैं, दीनबन्धु कौ नाम॥

यह हमने सुना अवश्य है, कि त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्ण की मित्रता और प्रीति सुदामा नाम के एक दीन-दुर्बल ब्राह्मण से थी। यह भी सुना है, कि भगवान् यदुराज ने महाराज दुर्योधन का अतुल आतिथ्य* अस्वीकार कर बड़े प्रेम से ग़रीब विदुर के यहाँ साग-भाजी का भोग लगाया था। पर यह बातें चित्त पर कुछ बैठती नहीं हैं। रहा हो कभी ईश्वर का दीनबन्धु नाम, पुरानी सनातनी बात है, कौन काटे, पर हमारा भगवान् दीनों का भगवान् नहीं है। हरे ! हरे ! वह उन घिनौनी कुटियों में रहने जायगा ? वह रत्नजटित स्वर्ण-सिंहासन पर विराजने वाला ईश्वर उन भुक्खड़ कंगालों के फटे-कटे कम्बलों पर बैठने

दीन-बन्धु का निवास-स्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मस्जिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल का दिल दुखाना भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीनों को सताना सबसे भारी धर्मविद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्मकामों को भस्मसात्* कर देने वाली है। सन्तवर मलूकदास ने कहा है:—

"दुखिया जनि* कोइ दूखिये, दुखिये अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारि है, सब गुड़ माटी होय॥"

दीनों को सताकर, उनकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा? कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा? ग़रीब की आह भला कभी निष्फल जा सकती है—

'तुलसी' हाय गरीब की, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरे बैल की चाम सों, लोह भस्म ह्वै जाय॥

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दयी कैसे हो सकता है? उसका उदार हृदय तो दया का आधार होता है। दीन को वह अपनी प्रेममयी दया का सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के सकरुण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है। दीन की मर्मभेदिनी* आह में उस पागल को अपने प्रियतम का मधुर आह्वान सुनाई देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाज़ा दीन-हीनों के लिए दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार उस दीन प्रेमी का स्वागत करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है। दीनों का हृदय दीनबन्धु

भगवान् का मन्दिर है और भगवान् का हृदय प्रेमी का वास-स्थान है। प्रेमी के हृदय में दरिद्रनारायण ही एकमात्र प्रेम-पात्र है। दरिद्र-सेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है। दीन-दयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है, भक्त है और प्रेमी है। दीन-दुखियों के दर्द का मर्मी ही महात्मा है। ग़रीबों की पीर जाननेहारा ही सच्चा पीर है। कबीर ने कहा है :—

'कबिरा' सोई पीर है, जो जाने पर-पीर* ।
जो पर-पीर न जानई, सो काफ़िर बे-पीर* ॥

मनुष्य और समाज

(श्री रघुनन्दन)

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। यह समाज में रह कर ही प्रसन्न रहता है। इसकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का यथेष्ट विकास भी समाज में रह कर ही हो सकता है। प्रकृति की ओर से ही मनुष्य में समाज में रहने की प्रबल चाह विद्यमान है। समाज के बिना इसका जीवन दूभर हो जाता है। 'समाज से अलग कर देना' या 'बिरादरी से निकाल देना'—मनुष्य के लिए सबसे कड़ी सज़ा समझी जाती है। क़ैद, जेल और एकान्त कारावास आदि कठोर दण्ड मनुष्य को समाज से पृथक् कर देने के ही नाम हैं।

न केवल सहज-प्रवृत्ति* के कारण, अपितु आवश्यकता के अनुरोध से भी मनुष्य को समाज में ही रहना पड़ता है। संसार के किसी भी अन्य प्राणी को अपनी स्थिति, रक्षा और वृद्धि के लिए समाज की इतनी अपेक्षा नहीं, जितनी मनुष्य को है। प्रकृति ने पशु-पक्षियों को, यहां तक कि कीट-पतंगों तक को भी, अपने जीवन की रक्षा के साधनों से सुसज्जित*

करके संसार में भेजा है। किसी को सींग, किसी को तेज़ दाँत, किसी को डंक और किसी को तीक्ष्ण नख प्रकृति की ओर से ही मिले हुए हैं जिनसे वे अपने शत्रुओं से अपना बचाव स्वयं कर सकते हैं। अपनी रक्षा के लिए वे किसी के मुहताज* नहीं। अपने रहन-सहन, खान-पान और वेष-भूषा के लिए भी उन्हें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं। उन्हें रहने के लिए न घरों की ज़रूरत है, न पहनने के लिए कपड़ों की, न खाने के लिए दूसरों के बनाये हुए भोजन की और न बीमारी में डाक्टर की। उनकी आवश्यकताएँ उनके अपने अधीन हैं।

पर, मनुष्य, जो अपने आपको संसार के सब जीवों से श्रेष्ठ मानता है, इस अंश में, निःसन्देह, अधूरा है। इसे प्रकृति ने सींग आदि के समान अपनी रक्षा का कोई साधन नहीं दिया। ना ही इसे ऐसा सुदृढ़* और बलिष्ठ बनाया है कि यह बिना किसी दूसरे की सहायता के, जीवित रह सके। इसे अपने पालन-पोषण के लिए, खान-पान के लिए, रहन-सहन के लिए, वेष-पहिरावे के लिए तथा ज्ञान-विज्ञान के लिए सदा अपने साथियों की आवश्यकता रहती है। मनुष्य को अपने हर काम के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। जहाँ गौ और बकरी का बच्चा पैदा होते ही चलने-फिरने लगता है, बन्दर का बच्चा जन्म से ही तैरना जानता है, वहाँ मनुष्य का बच्चा पैदा होते ही दूसरों का मुहताज होता है। चलना-फिरना और तैरना तो दूर रहा, इसे तो बैठना और खाना तक भी नहीं आता। यदि माता अपनी अगाध* ममतामयी सेवा-शुश्रूषा से उसका पालन न करे, तो शायद उसका संसार में जीवित रहना भी असंभव हो जाय। मनुष्य के बच्चे को जितनी दूसरों की सहायता की आवश्यकता है, उतनी और किसी जन्तु के बच्चे को नहीं।

न केवल बचपन में, अपितु बड़ा होकर भी मनुष्य दूसरों पर आश्रित रहता है। दूसरों की सहायता के बिना वह एक पग भी नहीं चल सकता। एक लड़का जो घर से स्कूल तक पैदल जाता है, वह भी दूसरों की सहायता से ही ऐसा कर पाता है। अपने असंख्य साथियों के अनन्त परिश्रम का लाभ उठाकर ही वह पैदल चलता है। जिस सड़क पर से वह पैदल चल कर जाता है, उसके बनाने में, न जाने, कितने ही मनुष्यों ने मिलकर परिश्रम किया है। जिन हथियारों से वह बन पाई है, उनके बनाने में और उनके लिए कानों में से लोहा निकालने के लिए, असंख्य व्यक्तियों का परिश्रम और दिमाग़ लगा होगा। इन सब व्यक्तियों की सहायता लेकर ही एक बच्चा घर से स्कूल तक चल पाता है। इसी प्रकार जिन कपड़ों को हम पहनते हैं, उनके बनाने में भी असंख्य मनुष्यों का परिश्रम छिपा हुआ है। कपास को पैदा करना, उससे कपड़ा बनाना, फिर उसे सीना आदि सब कुछ हमारे लिए दूसरे करते हैं। एक कमीज़ पहनने में हम अवश्य दूसरों की सहायता प्राप्त करते हैं। इस लिए यह सोचना बिलकुल मिथ्या भ्रम* और निरा घमंड है कि मनुष्य अपने साथियों की सहायता के बिना जी सकता है।

यदि मनुष्य यह चाहे कि मैं अपना हर काम स्वयं कर लूँ तो, प्रथम तो, ऐसा करना उसके लिए असम्भव है, कारण कि उसकी योग्यता और शक्ति परिच्छिन्न* है। दूसरे ऐसा करने से उसकी प्रवृत्ति और ज्ञान का क्षेत्र बहुत ही संकुचित* हो जायगा। वह पशुओं के समान अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं—खाना-पीना, सोना और घूम आना—की पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ न कर सकेगा। यदि धोबी हमारे कपड़े साफ़ न करे, यदि चमार हमारा जूता न बनाये, यदि घर में

माता हमारी रोटी न पकाये, यदि नौकर हमारे बरतन साफ़ न करे, और यदि ये सभी काम हमें स्वयं करने पड़ें, तो प्रत्येक बालक सोच सकता है कि उसकी पढ़ाई के लिए कितना समय मिल सकता है। इस प्रकार प्रत्येक बालक की पढ़ाई में और फलतः उसके द्वारा उन्नति और महत्ता* प्राप्त करने में उन सब धोबी, चमार, पाचक और दूसरे असंख्य मनुष्यों की सेवा का पर्याप्त भाग है। उन सबके परिश्रम तथा सहयोग का फल उठा कर ही एक बालक पढ़ाई कर सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का यह अभिमान मिथ्या है कि मैं अकेला और निरपेक्ष* होकर रह सकता हूँ। मनुष्य तो छोटे-छोटे कामों में—और आत्मरक्षा तथा वृद्धि आदि बड़े-बड़े कामों में भी—सदा दूसरों की सहायता पर आश्रित है। इतर* प्राणियों से मनुष्य इस अंश में, निश्चय ही, कुछ हीन है।

अपनी इस हीनता की पूर्ति मनुष्य सामाजिक जीवन से करता है। सामाजिक जीवन पशुओं में भी है सही, पर उनमें वह इतना सापेक्ष नहीं, जितना मनुष्यों में है। सामाजिक जीवन से जहाँ मनुष्य की उपर्युक्त कमी की पूर्ति होती है, वहाँ इसके जीवन की सारी सरसता, सारे सुख-आनन्द और माधुर्य का कारण भी सामाजिक जीवन ही है। समाज से ही इसे जीवन मिलता है, समाज से ही बुद्धि एवं शक्ति मिलती है, समाज के द्वारा ही इसकी रक्षा होती है और समाज ही इसकी वृद्धि और समुन्नति का कारण है। संक्षेप में अकेला व्यक्ति इस अनन्त संसार में तिनके के समान अकिञ्चित्कर* है और समाज के संपर्क* में आकर ही वह सब कुछ है। एक शब्द में मनुष्य के लिए सब कुछ उसका समाज है।

यह बात जहाँ सदा और सर्वत्र सत्य है, वहाँ आज के मनुष्य के लिए तो यह अत्यन्त अनिवार्य हो गई है। आज

का मनुष्य तो बिल्कुल ही अपने समाज पर आश्रित है। वह एक कल* के पुरज़े के समान है जिसकी उपादेयता* उस कल में जुड़े रहने से ही है। आज के मनुष्य के अधिकार, उसके समाज के अधिकारों में हैं। आज के मनुष्य की मुक्ति उसके समाज की मुक्ति में है। समाज से बाहर निकल कर उसका कोई मूल्य नहीं—वह सर्वथा नगण्य* है।

साथ ही, यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि समाज की दृष्टि से मनुष्य या व्यक्ति कोई उपेक्षणीय* वस्तु नहीं है। आखिर समाज व्यक्तियों के मेल से ही बनता है और समाज का निर्माण भी व्यक्ति ने अपने लाभ के लिए ही किया है। चूँकि मनुष्य अकेला कुछ नहीं कर सकता, इसलिए उसने अपने लाभ के लिए समाज का संगठन किया है। अतः व्यक्ति की अवहेलना* करके समाज न उन्नति कर सकता है, और न ही स्थायी रह सकता है।

समाज एक शरीर के समान है और भिन्न-भिन्न व्यक्ति उस समाज-शरीर के पृथक्-पृथक् अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं या समाजरूपी मशीन के अलग-अलग पुरज़े हैं। यदि मशीन के पुरज़े निकम्मे लोहे के बने हों, तो क्या वह मशीन स्थायी हो सकती है? शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की दुर्बलता या बलिष्ठता पर ही शरीर का दुर्बल या बलिष्ठ होना निर्भर है। कच्ची ईंटों की बनी हुई दीवार भी कच्ची ही कही जाती है। मोतियों की कीमत से ही माला की कीमत आँकी जाती है। निकम्मे व्यक्तियों से बना हुआ समाज भी अवश्य निकम्मा गिना जाता है।

न केवल यह, अपितु मशीन में यदि कुछ पुरज़े अच्छे बढ़िया लोहे के हों और कुछ घटिया निकम्मे लोहे के, तो भी, निकम्मे पुरज़ों के शीघ्र घिस जाने के कारण वह सारी मशीन ही शीघ्र निकम्मी हो जायगी। कुछ पुरज़ों का बहुत बढ़िया

समता और समानता के अधिकार प्रदान करे। कतिपय सत्ताधारी व्यक्तियों के हाथों निर्बलों और छोटों पर अत्याचार न होने दे। इसी परस्पर-भावना में संसार की सच्ची शान्ति का मूलमंत्र निहित* है।

सञ्चय

(अनु० श्री पं० जनार्दन झा)

"कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः।"

यदि मनुष्य सारी उम्र परिश्रम करने में समर्थ होता, तो हमें अपव्यय* आदि हानिकारक विषयों के विरुद्ध कुछ कहने की जरूरत न थी और तब आमद-ख़र्च बराबर करने पर भी दुःख से समय बिताने का प्रसङ्ग न आता। क्योंकि रोज़-रोज की आय से रोज़-रोज का अभाव दूर होता जाता। किन्तु सारी उम्र कोई काम नहीं कर सकता। युवावस्था की शक्ति आधी उम्र बीतने पर नहीं रहती और अर्धवयस्क की शक्ति बुढ़ापे में नहीं रहती। मतलब यह कि बाल्यावस्था में मनुष्य जैसे जीविका प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं, वृद्धावस्था में भी वैसे ही असमर्थ हो जाते हैं। कितने ही तो बुढ़ापे के पहले ही रोग-शोक के द्वारा स्वास्थ्य खो बैठते हैं, और कोई काम करने योग्य नहीं रहते। तब उनकी यह पहली शक्ति, श्रमसहिष्णुता* और उद्योगपरता* एक भी काम नहीं आती। उस समय उन्हें या तो अपने को दूसरे की शक्ति और कमाई पर निर्भर रहना पड़ता है, या अपनी युवावस्था के सञ्चित धन पर। मनुष्य यदि जङ्गली जानवरों की तरह अपने जीवन को व्यतीत कर सकते और फल मूल किंवा जानवरों के मांस से ही अपना

पेट भर लेते तो संचय* की कुछ अधिक आवश्यकता न थी। किन्तु ईश्वर की नीति और ही तरह की है। ईश्वर ने मनुष्यों को अभाव-ज्ञान, आकांक्षा, आशा, विश्वास, वासना और अनुभव-शक्ति देकर अन्यान्य प्राणियों से पृथक् कर रखा है। क्रमशः उन्नति करना ही मनुष्यों के जीवन का मूल-मन्त्र है। मनुष्यों को यदि ईश्वर यह ज्ञान न देते तो दिन-दिन जो नया आविष्कार होता है, कला-कौशल की जो वृद्धि होती है, यह किसी के देखने में न आती। मनुष्य जब बिल्कुल जङ्गली की तरह असभ्य अवस्था में रह कर नग्न पशुओं की भाँति जीवन बिताते थे, शिकार के द्वारा जो कुछ मिल जाता था उसी से अपनी क्षुधा* का निवारण करते थे, तब भविष्य के लिए उन्हें कोई चिन्ता न थी। किन्तु जब उन्होंने देखा कि शिकार रोज़-रोज़ नहीं मिलता, किसी-किसी दिन उपवास* भी करना पड़ता है, तब उन्होंने एक दिन की आहार्य सामग्री से कुछ कुछ बचा कर दूसरे दिन के लिए रखना सीखा। आख़िर जब प्रतिदिन पशुओं को मारने से वन्य पशुओं का ह्रास होने लगा तब, जङ्गली पशु न मिलने के कारण, कभी-कभी कई दिनों तक भूखे रह कर समय बिताने की नौबत आई। उस समय उन्होंने अपने जीवन-निर्वाह के लिए नवीन मार्ग का आश्रय लिया। तब वे कुछ धान जमा कर उसे बोने, खेती करने और उसके लिए उपयुक्त हथियारों के बनाने में लगे। धीरे-धीरे उन्हें जाड़े, गरमी और वर्षा का भी बोध होने लगा और वे देह की रक्षा का उपाय ढूँढ़ने लगे। उन्हें बाघ, सिंह, साँप आदि भयङ्कर जीवों से अपनी रक्षा करने की बात भी सूझी। सुख-स्वच्छन्द से रहना पसन्द आया। भोजन, वस्त्र और घर विशेष प्रयोजनीय जान पड़ने लगे। वे खोजने लगे कि आराम कैसे मिलेगा। किन्तु जब उन्होंने देखा कि एक ही

व्यक्ति से खाद्य-वस्तुओं का संग्रह करना, रसोई बनाना, परोसना, बाल-बच्चों की हिफ़ाज़त,* खेती करना, पशुओं का पालन, गाय दुहना, कपड़ा बुनना, घर बनाना, गृहस्थी के लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना और औज़ार आदि बनाना जितने काम हैं, सभी सम्पन्न नहीं हो सकते और इन कामों में कोई ऐसा भी नहीं जो छोड़ दिया जाय, तब उनके हृदय में स्वार्थ-त्याग का भाव जागृत हुआ। तब वे परस्पर एक-दूसरे की सहायता करने लगे। अपने आवश्यक कामों को सभी ने आपस में बाँट लिया। सभी अपने अपने बल और बुद्धि के अनुसार काम करने लगे। कोई लोहा ढूंढ़ कर लाने लगा। कोई उसे आग में गला कर और ठोक-पीट कर खुरपी, कुदाल और हँसुआ तैयार करने लगा। कोई ज़मीन खोद कर खेत दुरुस्त करने लगा। इसी प्रकार कोई बोने, कोई उसकी हिफ़ाज़त करने, कोई काटने और कोई उसे तैयार करके सुरक्षित स्थान में रखने लगा। धीरे-धीरे व्यवसाय बढ़ चला। आवश्यकतानुसार लोग एक चीज़ के बदले में दूसरी चीज़ लेने-देने लगे। इस प्रकार क्रमशः कृषि, शिल्प और वनज-व्यापार आदि की सृष्टि होकर व्यक्तिगत और जातिगत धन की उत्पत्ति हुई। जो मनुष्य असभ्य होकर, जङ्गली जानवरों की तरह जङ्गल में रह कर, जीवन व्यतीत करते थे वे क्रम-क्रम से अपनी उस पाशव अवस्था को अतिक्रम* कर शिक्षित, शिष्ट और वास्तविक मनुष्य हो चले। इस तरह कितनी ही शताब्दियाँ बीतने पर अब मनुष्य नीति, धर्म, ज्ञान, विज्ञान आदि अनेक गुणों के सहारे सभ्यता के ऊँचे शिखर पर आ पहुँचे हैं। आजकल की जो मनुष्यों की वृद्धिङ्गत अवस्था है उसकी तुलना प्रथम काल की बाल्य अवस्था से किसी प्रकार नहीं हो सकती। यदि कोई पूछे कि अवस्था में इस प्रकार परिवर्तन होने का कारण

क्या है ? तो हम यही उत्तर देंगे कि एक-मात्र स्वार्थ-त्याग और स्वार्थ-त्याग-जनित सञ्चय । आज की समस्त आहार-सामग्री से यदि कुछ न बचाया जाय तो कल के लिए कुछ नहीं रह सकता, यह स्वयंसिद्ध है। कल के लिए यदि तुम कुछ रखना चाहो तो आज तुम्हें कुछ ज़रूर त्यागना होगा। मान लो, आज मेरे हाथ दस रुपये आ गये हैं; इन रुपयों को खर्च करके मैं अच्छे-अच्छे फल-मूल और मिठाइयों से अपनी रसना को तृप्त कर सकता हूँ; किराये की गाड़ी या मोटरकार पर चढ़ कर इधर-उधर हवाखोरी कर सकता हूँ; सुगन्धित तैल और इत्र के द्वारा अपने सारे शरीर को सुवासित कर सकता हूँ, अथवा दस-पाँच मित्रों को निमन्त्रित* कर मित्र-सम्मिलन का सुख प्राप्त कर सकता हूँ, किन्तु कल एक रुपया भी कहीं से मिलने की सम्भावना नहीं है तो मुझे इसका आज निश्चय कर लेना चाहिए कि इन रुपयों को किस काम में किस परिमाण से खर्च करना होगा। कल मुझे कुछ आमदनी हो या न हो पर भूख लगे ही गी और भोजन भी करना ही पड़ेगा। अतएव या तो आहार्य्य वस्तुओं का कुछ अंश या दस रुपयों में से कुछ रुपये मुझे बचा कर ज़रूर रखने चाहिएँ । इन रुपयों से आज मैं जितना सुख उठाना चाहता हूँ उसके कितने ही अंशों से मुझे वञ्चित होना पड़ेगा । बहुत बढ़िया आहार करने से गुज़र न होगी। टहलने के लिए किराये की गाड़ी न लेकर पैदल ही घूमना-फिरना होगा। भोग-विलास की वस्तुओं से परहेज़ रखना होगा। यदि मैं इतना स्वार्थ-त्याग कर सकूँ तो इन दस रुपयों में से तीन-चार रुपया ज़रूर ही बचा सकूँगा और वही कठिन समय में काम आवेंगे। यह बात कुछ एक ही दिन के लिए नहीं कही गई है, बल्कि उम्र भर इस बात का ध्यान रखना चाहिए। भविष्य के लिए, वक़्त-बे-वक़्त के लिए

और कार्य करने में असमर्थ होने पर जीवन-निर्वाह के लिए, वर्तमान-कालिक आय में से कुछ बचा रखना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। तुम अपने लिए जितना स्वार्थ-त्याग* करना चाहते हो उससे कुछ अधिक स्वार्थ-त्याग करके सञ्चय की मात्रा बढ़ाओ जिसमें तुम्हारे 'परोक्ष' में तुम्हारे प्रिय परिवार पर दुःख का पहाड़ न टूट पड़े।

विचार-शक्ति और ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही साथ सञ्चय-शील होने की शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिए। सञ्चय न करना असभ्यता का चिह्न है। असभ्यगण स्वभाव से ही असञ्चय-शील होते हैं, क्योंकि उन्हें भविष्य की कुछ फ़िक्र नहीं रहती। कुछ असञ्चयी लोगों को यह कहते सुना है कि "आज खाय और कल को झक्खे, ताको गोरख, सङ्ग न रक्खे।" पर वे यह नहीं सोचते कि यह किसकी कही हुई बात है। गोरखनाथ योगिराज थे, विरक्त थे, उनको यह कहना शोभा देता था, किन्तु हम बाल-बच्चेवाले गृहस्थ वैसी बात कह कर क्यों असञ्चयशील बनें? जो सञ्चय नहीं करते उन्हें कभी-कभी बड़ा ही कष्ट सहना पड़ता है। ऐसे कितने ही असञ्चयी व्यक्ति देखे गये हैं जो जवानी में खूब रुपया कमाते हैं पर कुछ सञ्चय न करने के कारण बुढ़ापे में अकर्मण्य और असहाय होकर कुत्ते की मौत मरते हैं। अतएव जो शिक्षित हैं, और जिन्हें सभ्य कहलाने का गर्व है वे सञ्चयशील होने का भी अवश्य ध्यान रखें। असञ्चयी लोगों की गणना सभ्य समाज में नहीं हो सकती। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य कुछ सञ्चय करना नहीं जानते थे। वे उस समय ऐसे असभ्य थे कि खेती तक करने का उन्हें ज्ञान न था। ज्यों-ज्यों उन्हें अभाव होने लगा त्यों-त्यों उनकी आँखें खुलने लगीं और वे सञ्चयशील होने लगे। यह सभ्यता कई युगों के सञ्चय का परिणाम है। यदि

मनुष्यों को सञ्चय का ज्ञान न होता तो इतने प्राचीन काल से जो उत्तरोत्तर सभ्यता और कला-कौशल का परिष्कार होता आया है वह कुछ न होता। बिना सञ्चय के कभी उन्नति नहीं हो सकती। अतएव यदि तुम इसी उम्र में रोज-रोज कुछ स्वार्थत्याग करना सीखोगे तो अपने जीवन में तुम्हें कभी अभाव न होगा—कभी किसी से कुछ माँगने का अवसर प्राप्त न होगा। ऋणी होकर चिन्ता के मारे जवानी ही में वृद्ध की तरह जीर्ण-शीर्ण न होओगे। वरन् तुम्हारी सारी उम्र बड़े आराम से कटेगी। जब तुम दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए स्वार्थत्याग करना सीखोगे तब स्वयं सञ्चयशील बनोगे। क्योंकि सञ्चय का प्रथम साधन स्वार्थत्याग ही है। जो लोग अभी तक कुछ सञ्चय नहीं कर सके हैं वे यदि अब से भी कुछ सञ्चय करने का अभ्यास करें तो थोड़े दिनों में कुछ धन जमा हो जाने पर सञ्चय की ओर उनकी प्रवृत्ति अपने-आप बढ़ेगी। पहले अपनी अवस्था के अनुसार ज़रूरी कामों में ख़र्च करके जो कुछ बचे उसका सञ्चय करना बुद्धिमानों का काम है। जो लोग अपनी अवस्था पर ध्यान नहीं रखते, और यह नहीं समझते कि कौन ख़र्च आवश्यक है और कौन अनावश्यक*, उनसे जहाँ तक होगा क़र्ज़ ही करेंगे, पर अपनी आय में से कुछ बचा न सकेंगे। सञ्चय न करना जैसा अनुचित या अधर्म है वैसा ही अपनी आत्मा को तथा अपने परिवार को विशेष कष्ट देकर अतिसञ्चय करना भी अकर्तव्य और अधर्म है।

समाज जो आजकल इतनी बड़ी दुर्दशा में पड़ा हुआ है, उसका कारण धन का अभाव नहीं; उसका कारण तो धन का अपव्यय-मात्र है। धन का उपार्जन करना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन उसका सञ्चय करना है। इसलिए पहले यह सीखो कि धन का सञ्चय किस तरह करना चाहिए, धन

सञ्चय करने का क्या उपाय है? धनवत्ता उपार्जन के ऊपर निर्भर नहीं है। कोई कितना ही धन प्राप्त करे उससे उसकी धनिकता व्यक्त नहीं होती। धनिकता ख़र्च और सञ्चय के द्वारा ही जानी जाती है। ख़र्च करके जो कुछ सञ्चय किया जाता है यथार्थ में वही धन है। अपने और अपने पोष्य-वर्ग के आवश्यक ख़र्च के लिए जितने धन का प्रयोजन है उतने से अधिक उपार्जन करके जो लोग कुछ सञ्चय करते हैं, वे निःसंदेह समाज की उन्नति के हेतु-स्वरूप हैं। सञ्चय की मात्रा अत्यल्प ही क्यों न हो, किन्तु उनका स्वाधीन-चेता और आत्मनिर्भर बनाने के हेतु वही यथेष्ट है। पहले की अपेक्षा इन दिनों क्रेय वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया है। यह सच है कि जो चीज़ पहले एक रुपये की मिलती थी वह अब दो रुपये देने से भी नहीं मिलती। और आमदनी में तादृश वृद्धि हुई नहीं है। चीज़ महँगी होने से रुपये का ख़र्च बढ़ गया है सही, किन्तु जिनकी जो आय है उसमें से यदि नित्य प्रयोजनीय वस्तुएँ ही खरीदी जायँ, और फ़िज़ूल कामों में एक पैसा भी ख़र्च न किया जाय तो प्रत्येक गृहस्थ कुछ-न-कुछ सञ्चय ज़रूर कर सकता है। जो लोग सञ्चय नहीं कर सकते उन्हें समझना चाहिए कि ऐसा कोई कारण ज़रूर है जिससे प्रयोजन के अतिरिक्त भी ख़र्च हो जाता है। खोज करने से पता लग सकता है कि विलास-प्रियता की, या अपनी अवस्था से बढ़कर आराम की चीज़ें लेने या भोजनादि में नियमाधिक ख़र्च होने अथवा नामवरी के लिए अधिक खर्च करने के सबब कुछ बचने नहीं पाता। किंवा, इस तरह का कोई और ही कारण संचय में व्याघात* पहुँचा रहा है। इन असंचयशील, अपव्ययी लोगों की संख्या बढ़ने से समाज दिन-दिन दुर्बल और दरिद्र होता जाता है। यह सभी लोग चाहते हैं कि

हमारी उन्नति हो और हम आराम से रहें किंतु इसके लिए उन्नति करने का ज्ञान होना चाहिए। जो लोग अपनी अवस्था को उन्नत कर उसका उचित उपयोग करते हैं वे केवल अपना ही नहीं प्रत्युत सारे समाज का सिर उन्नत करते हैं। अतएव हर एक आदमी को मिहनती, अर्जनशील,* संचयी और कर्तव्यनिष्ठ* होना चाहिए।

विश्राम

(श्री आनन्दकुमार)

स्वास्थ्य के लिए आहार, व्यायाम आदि के समान विश्राम की आवश्यकता होती है क्योंकि उसी के द्वारा शरीर की खोई हुई शक्ति पुनः वापस मिलती है और शरीर-यंत्र जर्जर नहीं होने पाता। मानसिक और शारीरिक परिश्रम में मांस-पेशियों तथा नाड़ियों पर जो कार्य-भार पड़ता है उसको हल्का करने का साधन विश्राम ही है। विश्राम से स्नायु-मण्डल सशक्त होता है, शरीर, मन दोनों स्वस्थ होकर जीवन-संघर्ष के लिए पुनः समर्थ हो जाते हैं और धातु-तन्तुओं की क्षति-पूर्ति* होती है। इसलिए परिश्रम के बाद विश्राम करना भी आवश्यक है और विश्राम ऐसा करना चाहिए जिससे तन-मन दोनों को पूर्ण शान्ति मिले क्योंकि यही उसकी उपयोगिता है।

मानसिक विश्राम तो बहुत-कुछ विषय-परिवर्तन और स्त्री-बच्चों तथा मित्रों के साथ हास्य-विनोद करने से हो जाता है। हँसने से भी मन का विश्राम होता है क्योंकि हँसी से रक्त का प्रसार बढ़ता है, रक्त की गति तीव्र होती है और मुख्यतः मस्तिष्क का अवरुद्ध* रक्त ठीक से प्रवाहित होता है। उससे

फेफड़े खुलते हैं और एक-एक नस से दूषित वायु बाहर निकल आती है। इससे मन को शान्ति होती है। बहुत-सी चिन्ताएँ हँसी की हवा में उड़ जाती हैं। किसी भी प्रकार के मनोरंजन से मन को विश्राम मिल जाता है।

पूर्ण विश्राम का प्रधान साधन निद्रा है। स्वाभाविक मानसिक तथा शारीरिक शान्ति पूर्ण मात्रा में उसीसे मिलती है। इसलिए उचित मात्रा में प्रगाढ़ निद्रा शरीर के लिए सबसे प्रमुख 'टॉनिक'* होती है। निद्रा के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ जान लेना आवश्यक है।

निश्चित समय पर स्वाभाविक निद्रा ही स्वास्थ्य-प्रद होती है। उसको प्राप्त करने के लिए सुंदर पलंग और बिछौने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी स्वाभाविक आहार और परिश्रम की। पाचन-क्रिया ठीक रखने से और दिन में कुछ शारीरिक परिश्रम करने से रात में अच्छी नींद आती है।

नींद एक शारीरिक क्रिया नहीं, मुख्यतः मानसिक क्रिया है। मस्तिष्क को हलका करने से ही नींद आती है। मन में चिन्ता रहने से वह दूर भागती है। इसलिए लेटने पर किसी ऐसे कार्य की चिन्ता न करनी चाहिए, जिसके सुलझाने में मन को विचार करना पड़े। किसी पुराने विषय को सोचिए— ऐसे विषय को सोचिए, जिसमें आपको सफलता मिल चुकी हो। किसी मधुर-स्मृति* में मन को लगाइये। उससे यह होगा कि मनको चिन्तन न करना पड़ेगा, वह सुलझी-सुलझाई बातों का रस लेगा और जानी-बूझी गलियों ही में घूमेगा। उस पर नये विचारों का दबाव न पड़ेगा और वह रस-मग्न होकर सो जायगा। मनोवैज्ञानिकों ने निद्रा का यही श्रेष्ठ उपाय बताया है। दूसरा उपाय है सोने के पहले कोई मनोरंजक उपन्यास कहानी या काव्य पढ़ना अथवा स्वजनों से प्रेमालाप करना

इससे मन किसी गंभीर चिन्ता में न फँसेगा। आयुर्वेद के प्राचीन पण्डितों का कहना है कि इन्द्रियों से मन को हटा लेने से ही नींद आती है।

वैज्ञानिकों ने अनिद्रा के कारण और उनके निवरण* के कुछ अच्छे उपाय बताये हैं। अनिद्रा एक भयंकर रोग है। यदि इसका शीघ्रातिशीघ्र निवारण* न किया जाय तो शरीर और मस्तिष्क दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं तथा बाद में यह किसी भी उपचार से ठीक नहीं हो सकता। आत्मघातियों में अनिद्रा-पीड़ित व्यक्तियों की संख्या काफ़ी होती है। यह रोग प्रायः बुद्धि-सम्बन्धी काम करने वालों को तथा व्यवसायियों* को ही होता है।

अधिक मानसिक परिश्रम और चिन्ता से ही अनिद्रा रोग होता है। इसका रहस्य यह है। साधारण निद्रा की अवस्था में मस्तिष्क के रक्त का अधिक भाग वहाँ से निकल आता है और रक्त-वाहिनी नसों का संकोचन होता है। परन्तु जागृत-अवस्था में और मुख्यतः विचार करते समय मस्तिष्क की नसों में रक्त प्रचुर मात्रा में रहता है, इसलिए उनका फैलाव होता है। दोनों अवस्थाओं के ये कार्य प्राकृतिक हैं। मस्तिष्क से जब रक्त निकल जाता है और नसें संकुचित होती हैं तभी नींद आती है। अधिक चिन्ता, रात्रि-जागरण और अनवरत परिश्रम से रक्त मस्तिष्क में निरन्तर भरा रहता है और परिणाम यह होता है कि नसें फैल कर ढीली हो जाती हैं तथा उनका स्वाभाविक संकोचन नहीं हो पाता। ऐसी दशा में वे रक्त को मस्तिष्क से बाहर निकालने में असमर्थ हो जाती हैं और रक्त की उष्णता के कारण नींद नहीं आती। यदि शीघ्र सावधानी न की जाय तो स्नायु-मण्डल अशक्त बना रहता है और आगे उसको ठीक नहीं किया जा सकता। मूर्खों और

दरिद्रों को यह रोग नहीं होता क्योंकि वे बुद्धि पर जोर डालने वाला कोई कार्य नहीं करते। मूर्ख जब चाहे तब सो लेता है क्योंकि विचार न करने के कारण उसका मस्तिष्क रक्त से सदैव रिक्त रहता है। उसको सोने की ही बीमारी हो जाती है क्योंकि मस्तिष्क की नसें संकुचित ही रहती हैं।

अनिद्रा में अधिक-से-अधिक विश्राम लेना ही हितकर होता है। निश्चिन्तता से नसें पुनः स्वाभाविक कार्य करने लगती हैं। समुद्र की हवा इस रोग में जादू का-सा काम करती है। दिन में सोना, स्वच्छतम वायु का सेवन, घर से बाहर रहना, व्यायाम करना ये सब इसमें बहुत लाभ करते हैं। लेटने के पूर्व कोई गरम पेय, मुख्यतः दूध, पीने से गरमी पाकर मस्तिष्क का रक्त वहाँ से नीचे उतर आता है। सोने के पूर्व और जब जगे तब गरम दूध पीना बहुत गुण करता है। गरम दूध पीकर थोड़ी देर गरम पानी में पैर रखने से मस्तिष्क का रक्त-प्रसार कम हो जाता है और नींद आ जाती है।

जिस तरह भी हो सके प्राकृतिक और पर्याप्त विश्राम लेना स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है। अच्छी नींद के बाद थोड़े समय में भी दूना काम होता है। नींद न आने से दूने समय में भी आधा काम होता है।

सास और ननद

(श्रीमती राजकुमारी बिन्दल)

भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दू समाज में, अन्य देशों की अपेक्षा शादी का बंधन ज्यादा दृढ़ और पवित्र समझा जाता है। हिन्दुओं में विवाह स्त्री और पुरुष दोनों को पाणिग्रहण* संस्कार के क्षण से मृत्यु तक पारस्परिक बंधन में अविच्छेद्य* रूप से आबद्ध कर देता है। हिन्दू नारी के लिए पति तथा उसके गृह-संबंधी पूरे जीवन-काल के लिए अपने बन जाते हैं। तथा उनकी तन-मन-धन से सेवा करना उसका मुख्य कर्तव्य हो जाता है।

विवाह के पश्चात् अन्य देशों में नव-दम्पति अधिकतर अपने परिवार से पृथक् होकर ही जीवन व्यतीत करते हैं। लेकिन हमारे देश में संयुक्त परिवार की परिपाटी* परम्परा से चली आ रही है। विवाह के बाद पति तो नारी का निकटतम स्नेही होता ही है, इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पति के माता-पिता, भाई-बहिनों तथा अन्य संबन्धियों के संपर्क में भी वह निरन्तर रहती है और उनसे भी उसका रक्त का-सा ही घनिष्ठ संबन्ध माना जाता है।

सास और ननद के झगड़े और उनके प्रतिबन्धों के बारे में बहुत कुछ कहा-सुना जाता है। नारी स्वातंत्र्य के इस युग में नारी के ऊपर जबरन लादे गए पतिकृत बन्धनों को ढीला करने की बहुत कुछ बातें होती हैं। सास और ननद द्वारा उपस्थित किये गए बन्धन कुछ कम त्रासदायक नहीं होते। बंधन आवश्यक तो होते ही हैं परन्तु उनको पारस्परिक तो होना ही चाहिए, और साथ-साथ उन्हें सुविधापूर्ण भी होना चाहिए।

प्राचीन काल अथवा वैदिक काल में सास-बहू का संबंध ठीक माता और पुत्री के संबंध के समान ही होता था। वधू सास को माता के समान ही आदरणीय और अपना शुभ-चिंतक समझकर उसके आदर्शों पर चलना ही अपना कर्तव्य समझती थी। इसके अतिरिक्त सास भी वधू को अपनी पुत्री से अधिक समझकर उससे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती थी; उसको धर्म-उपदेश देती थी तथा बड़ों की सेवा करने का महत्व तथा रीति बताकर उसको कभी भी सन्मार्ग से विचलित न होने देती थी। सास कौशल्या जी के धर्म-उपदेशों के कारण ही राम-पत्नी श्री सीताजी अनेक कठिन अवसर पड़ने पर भी पतिव्रत धर्म के पालन करने में अपना नाम संसार में अमर कर गई। सास द्वारा दिये गए सदुपदेशों के अनेक उदाहरण हमारे प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं। चक्र-व्यूह-रचना के समय उसके ज्ञाता अर्जुन के वहां उपस्थित न होने के कारण अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु, जो १६ वर्ष का निरा बालक था, लड़ाई में जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसकी नव-वधू उत्तरा पति को युद्ध में जाते देख पतिप्रेम से व्याकुल होकर उसको युद्ध में जाने से विचलित करने लगी। उस समय उसकी सास सुभद्रा के धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर ही उत्तरा ने अभिमन्यु को वीर-पत्नी के अनुरूप उत्साह से सुसज्जित कर रणभूमि में भेजा था। रामायण और महाभारत में महाकाव्य के काल के इसी प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

मध्यकाल में भारतवर्ष का राजनैतिक व सामाजिक पतन और यवनों का प्रवेश होने के कारण परदे-जैसी बहुत-सी कुप्रथाएँ* प्रचलित हो गईं। इसका मूल कारण तो हिन्दू अबलाओं को यवनों के अत्याचारों से सुरक्षित रखना ही था। परन्तु परदे के कारण भारतीय नारी घर की चहार-दीवारी में बन्द

हो गई और उसकी स्वतंत्रता और साथ-साथ उसके सभी अन्य गुणों का ह्रास* होता चला गया। भारत की नारी जो साहस, शिक्षा तथा गुणों की भंडार थी, वही नारी कायरता, अशिक्षा इत्यादि के गर्त में गिरती चली गई।

पुत्र-वधू जिसे पुत्री के समान समझा जाता था, उसी को सास अब अपनी निरी दासी तथा पैरों की जूती समझने लगी। धर्म-उपदेशों तथा उसके हित की बातों की अपेक्षा उस पर गाली-गलौच तथा कटु-वाक्यों की बौछार करना ही वह अपना कर्तव्य समझने लगी। घर में पुत्र-वधू के प्रवेश करते ही सास और ननद को गृह के सब कार्यों से छुटकारा मिल गया; बस केवल बहू को आज्ञा देना और उसके काम में नुकताचीनी करना ही वे अपना अधिकार समझने लगीं। सास तथा बहुओं में वैमनस्य तथा ईर्ष्या-द्वेष बढ़ने लगा। दहेज की प्रथा भी इसके अनेक कारणों में मुख्य थी। यदि बहू सास की इच्छा के अनुसार दहेज न लाई, तो उसको नाना प्रकार से सताया जाने लगा। यदि वह कोई वस्तु किसी कारण से पिता के घर से न लाई तो उसको उससे वंचित रक्खा जाने लगा, चाहे वह वस्तु कितनी ही आवश्यक क्यों न हो। लड़की का पिता चाहे अपना सर्वस्व ही क्यों न दे दे, लेकिन फिर भी दहेज में नुकता-चीनी करना अब अनिवार्य-सा* हो गया है। बहुओं पर भी इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। वे भी सास को आदरणीय न समझकर उलटी-सीधी सुनाने में नहीं चूकतीं। यदि बहू अमीर घराने की होती है तो वह भी घर के प्रत्येक मनुष्य से खुशामद कराना चाहती है। यदि पति कमाऊ होता है तो बहुएँ भी सब को अपना दास बनाकर रखना चाहती हैं। वे ननद-देवरों के साथ अवसर मिलने पर बुरा व्यवहार करती हैं। इस का उन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे भी अपनी भाभी के साथ

अपनी माता की तरह ईर्ष्या-द्वेष का-सा व्यवहार करने लगते हैं। वे अपनी भाभी के पीछे खुफ़िया पुलिस की तरह लगे रहते हैं और हर तरह की उलटी-सीधी सूचना माता को देते रहते हैं। और इस प्रकार से वह अपने जीवन में शिक्षा, खेल, कूद, सभ्यता आदि की अपेक्षा, ईर्ष्या, द्वेष, लड़ाई इत्यादि के दूषित वातावरण में रहने के कारण अपने भावी जीवन को उन्नतिशील बनाने में असफल हो जाते हैं। घर में चौबीसों घंटे कलह मची रहती है। सास, जो पुत्र-जन्म से ही बहू के आने की आशा लगाये रहती है, तथा वधू जो सुसराल में बहुत-से अरमान लेकर आती है, दोनों ही इस कलह के कारण अपनी इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ हो जाती हैं।

यद्यपि इस कलह के बहुत-से कारण होते हैं, लेकिन विशेष कारण उचित शिक्षा का अभाव ही है। गृह में प्रायः सास अशिक्षित तथा पुराने ढर्रे की होती है। वधुएँ भी अर्ध-शिक्षित या तथाकथित नई रोशनी की होती हैं। आधुनिक वातावरण में रहने के कारण उनके अंदर नये भाव होते हैं, जो प्राचीन रूढ़िवाद के विरुद्ध होते हैं। विशेषकर धार्मिक सिद्धान्त, परदा-प्रथा, रूढ़िवाद तथा छुआछूत इत्यादि विषयों में वधुओं के विचार अपनी सास से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए वहू अपने ससुर, जेठ आदि को अपना आदरणीय समझ कर और उनमें पूरी मर्यादा रखते हुए अवसर पड़ने पर उनसे बोलने में ज़रा भी दोष नहीं समझती; लेकिन सास इसको बड़ा भारी अनर्थ समझ कर वहू को लज्जाहीन, वेश्या आदि अपशब्दों से प्रताड़ित करने में ज़रा भी संकोच नहीं करती। इसी प्रकार धर्म के नाम पर प्रचलित आडंबरों तथा समाज की उन्नति में बाधक और नारी-हित में हानिकारक बातों में लकीर की फ़कीर बनने से बहुएँ इनकार कर देती हैं। इस पर सास अन्य बहुओं के

उदाहरण देकर उन्हें नाना प्रकार से लज्जित करती हैं। ये ही ज़रा-ज़रा-सी बातें कलह का कारण बन जाती हैं।

आज प्रत्येक घर में सास-बहू और ननद-भाभी के कलह की समस्या बहुत जटिल होती जा रही है। जिस घर में सास-बहू प्रेमपूर्वक रहती हों, उसे तो स्वर्ग के समान सुखी और समृद्धि-पूर्ण* समझना चाहिए। घरेलू समस्याओं में सास-बहू तथा ननद-भौजाई के कलह की समस्या ही सबसे बढ़कर होती है। यहाँ इसी समस्या पर विचार करना अभीष्ट* है।

'ताली कभी एक हाथ से नहीं बजती', यह कथन पूर्णतया सत्य है। झगड़ा दोनों ही तरफ़ से होता है। एक ही को दोषी ठहरा कर सारा दोष उसी पर लगाना बुद्धिमानी नहीं है। सास-बहू के संबन्ध में यह सर्वथा अभीष्ट है कि सास को बहू अपनी माता से भी अधिक पूज्य और आदरणीय समझे। अपने बड़ों की सेवा करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक वधू को अपने विचारों के साथ अपनी अनुभवी सास के रूढ़िगत पुख़्ता भावों और विचारों का भी ध्यान रखना ही चाहिए। उनके साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए। उनकी कभी निंदा न करनी चाहिए। उनको अपने विचारों के अनुसार चलाने के लिए उनसे नम्रता तथा मीठी वाणी के साथ ऐसे ढंग से व्यवहार करना चाहिए जो सास को अप्रिय न लगे और विशेष असमंजस प्रतीत न हो। वाणी तो ऐसी बोलनी चाहिए मानो शर्बत घोल रखा हो। 'वशीकरण इक मंत्र है परिहर वचन कठोर'। जिस प्रकार मीठी वाणी बोलनेवाला व्यवसायी और सेवक कृतकार्य हो जाता है इसी प्रकार मीठी वाणी बोलनेवाली बहू सब की प्रिय हो जाती है तथा कटु-से-कटु संबन्धी को भी अपना कर लेती है। अपनी मीठी वाणी से वह सास की अनिच्छा होते हुए भी

लेखक-परिचय

लेखक-परिचय

श्री पं० बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४)

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सन् १८४४ में हुआ और मृत्यु १९१४ में। आपकी माता बड़ी विदुषी थी, इससे आपकी शिक्षा का प्रारम्भ घर पर ही संस्कृत से हुआ। कुछ दिन आप मिशन स्कूल में भी पढ़े, पर ईसाई हेडमास्टर से धर्मसम्बन्धी बातों पर कुछ अनबन हो जाने से वह स्कूल आपको छोड़ना पड़ा। कुछ दिन आपने जमुना स्कूल में नौकरी की पर वहां भी धार्मिक मतभेद के कारण अधिक समय तक न ठहर सके। कुछ समय व्यापार में भी लगाया, पर अन्त को साहित्य-सेवा ही आपकी प्रकृति के अनुकूल पड़ी। १८७७ में प्रयाग की 'हिन्दी-प्रवर्द्धिनी सभा' ने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र निकाला और भट्ट जी उसके प्रथम सम्पादक बने। वहीं से आपका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ। पीछे आप 'कायस्थ संस्कृत पाठशाला कालेज' में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए।

आप तीस-बत्तीस वर्ष तक लगातार 'प्रदीप' में लिखते रहे। आपकी शैली विशेष रुचिकर है। उसमें कहावतों और मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। अंग्रेज़ी और उर्दू के शब्द भी कहीं-कहीं बरते गये हैं। पुराने निबन्धकारों और गद्य-लेखकों में आपको प्रतिष्ठित स्थान उपलब्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी कहा करते थे कि "बस, हमारे बाद भट्ट जी ही हैं"। श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के अनुसार हिन्दी-गद्य में भट्ट जी का वही स्थान है जो अंग्रेजी-गद्य में एडीसन या स्टील का है।

अनेक निबन्धों के अतिरिक्त आपके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—'विकट खेल', 'बाल-विवाह' (नाटक), 'सौ अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'शिक्षादान', 'दमयन्ती-स्वयंवर', 'भट्ट-निबन्धावली', 'साहित्य-सुमन' आदि-आदि।

श्री मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (१८६९–१९४८)

स्वनामधन्य श्री मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म २ अक्तूबर, सन् १८६९ में काठियावाड़ के पोरबन्दर (प्राचीन नाम सुदामापुरी) में एक प्रतिष्ठित वैश्य घराने में हुआ। आपके पिता श्री कर्मचन्द तथा पितामह श्री उत्तमचन्द गाँधी वहाँ के दीवान थे। आपकी माता अत्यन्त धार्मिक वृत्ति की थीं। कहते हैं कि व्रत, उपवास, अहिंसा तथा सत्य की दृढ़ निष्ठा के पुनीत भाव आपको माता के दुग्ध से ही प्राप्त हुए थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में हुई। पीछे राजकोट में आकर आपने मिडल की शिक्षा पाई। १७ वर्ष की आयु में आपने मैट्रिक किया और तभी आपका विवाह भी हो गया। १८ वर्ष की आयु में आपके पिता जी का देहान्त हो गया। सन् १८८८ में आप बैरिस्टरी के लिए लन्दन गये और १८९१ में बैरिस्टर बनकर बंबई हाइकोर्ट में प्रेक्टिस करने लगे। पीछे सन् १८९३ में एक मुकदमे के सम्बन्ध में आप दक्षिण अफ्रीका गये। वहाँ भारतीयों की दुर्दशा देखकर आप बहुत खिन्न हुए और उसी की प्रतिक्रिया के रूप में देश-सेवा की ओर प्रवृत्त हुए। इस दिशा में आपने जो-जो दुष्कर कार्य किये और जिस प्रकार कठिन तपस्या, दृढ़ सत्यनिष्ठा और शान्त सत्याग्रह के द्वारा अपने देश का उद्धार किया, वह सर्वविदित है। इसी के फलस्वरूप आप 'महात्मा गाँधी', 'राष्ट्रपिता' अथवा 'बापू' के नाम से विख्यात हुए।

साहित्य के क्षेत्र में—विशेषतया हिन्दी के प्रचार तथा सुधार के कार्य में—भी आपकी देन अमूल्य है। आप एक कुशल लेखक तथा निर्भीक वक्ता थे। हिन्दी में आपने कई पत्र चलाये। इनके अतिरिक्त आपके 'कारागार-दिग्दर्शन', 'आत्मकथा' आदि अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं।

अन्त में एक नर-पिशाच की गोली से अहिंसा का अवतार,

भारत का बापू, और संसार का महापुरुष, ३० जनवरी सन् १९४८ को सायंकाल ५-४० पर राम-राम का उच्चारण करता हुआ अमरत्व को प्राप्त हुआ।

श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८७१-१९३९)

हिन्दी के महान् आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का जन्म रायबरेली जिला के दौलतपुर नामक ग्राम में सन् १८७१ (वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२७) में हुआ और मृत्यु १९३९ (पौष कृष्ण ३० सं० १९९५) में। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा वहीं के देहाती स्कूल में हुई। बाद में आप रायबरेली के हाई-स्कूल में पढ़ते रहे। उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी आपने इसी स्कूल में पढ़ी थी। उन दिनों स्कूलों में संस्कृत की पढ़ाई का कोई प्रबन्ध न होता था। आपकी संस्कृत की शिक्षा का प्रबन्ध आपके चाचा पं० दुर्गाप्रसाद ने किया था। पीछे आप अपने पिता के साथ बंबई चले गए और मराठी, तथा गुजराती भाषाओं का अध्ययन आपने वहीं पर किया। इसके बाद आप जी. आई. पी. रेलवे में नौकर होकर तार-बाबू बने। कुछ ही दिनों बाद उन्नति करके आप तार के इन्स्पैक्टर बन कर झांसी आगए और क्रमशः हैड-टैलिग्राफ़-इन्स्पैक्टर और फिर डिस्ट्रिक्ट-सुपरिण्टेण्डेंण्ट के चीफ़ क्लर्क बने। बाद में कुछ अनबन के कारण आपने नौकरी छोड़ कर साहित्य-सेवा का व्रत लिया।

सन् १९०३ में आप 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए और लगभग बीस वर्ष तक इसी पद पर आरूढ़ रहे। इस काल में आप ने जहां हिन्दी-गद्य की काया पलट की, वहां बीसियों नये-नये लेखकों और कवियों को भी प्रोत्साहित करके जनता के सामने पेश किया। राष्ट्रीय कवि श्री डा. मैथिलीशरण गुप्त और श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय आपके ही संपर्क की कृतियां हैं। साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी के चार महान् कार्य गिने जाते हैं—(१) भाषा तथा गद्यशैली का

और संशोधन, (२) नये-नये विषयों पर हिन्दी में निबन्ध लिखकर साहित्य की पुष्टि, (३) आलोचना का परिष्कार और (४) हिन्दी कविता में खड़ीबोली का समावेश और समर्थन करके हिन्दी-पद्य का नूतन संस्कार।

गद्यलेखक के साथ-साथ आप सुलझे हुए कवि और प्रौढ़ समालोचक भी थे। भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह सिद्धान्त था कि हिन्दी में उर्दू, फ़ारसी, मराठी आदि सभी भाषाओं के शब्द ले लेने चाहिएं। केवल संस्कृत से काम न चलेगा। 'यदि तुम सब पराये शब्दों को निकाल दोगे तो हिन्दी में 'कफ़न' तक का टोटा हो जायगा और हिन्दी कदापि समृद्धिशालिनी न बन सकेगी'।

आपने विविध विषयों पर लगभग चालीस पुस्तकें लिखी हैं। आप हिन्दी के इतिहास में 'युगप्रवर्तक' माने जाते हैं।

महाराज के प्राइवेट दफ़तर में कार्य करते रहे। परन्तु वहां से भी शीघ्र ही लौट आये। १६१० में आपने बनारस में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के प्रथम अधिवेशन की आयोजना की। १६१२ में आप कालीचरण हाई स्कूल, लखनऊ के 'हेडमास्टर बने। १६२१ में आप फिर हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बनकर लौट आये और १६३१ तक वहीं कार्य करते रहे।

सरकार की ओर से आपको पहले 'रायसाहब' और फिर 'राय-बहादुर' की पदवी मिली। हिन्दू यूनिवर्सिटी ने आपको डी. लिट् की ऑनरेरी डिग्री प्रदान की और अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की ओर से आपको 'साहित्यवाचस्पति' की गौरवमयी उपाधि से सम्मानित किया गया।

डा. श्यामसुन्दरदास का नाम काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के जन्मदाताओं में गिना जाता है। कहते हैं कि जब आप ६वीं श्रेणी में पढ़ा करते थे, तभी आपने अपने अन्य साथी छात्रों के साथ मिलकर—जिनमें ४वीं श्रेणी के छात्र भी सम्मिलित थे—इस सभा की स्थापना की थी और =) मासिक चंदा लिखवाकर स्वयं इस सभा के सदस्य बने थे। इस सभा ने हिन्दी और नागरी के उत्थान में जो महान् कार्य किया है, उसमें आपका यथेष्ट सहयोग है। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की आयोजना, तथा उनकी ८-६ वर्ष तक की पूरी रिपोर्टों का सम्पादन तथा प्रकाशन और 'हिन्दी-शब्द-सागर' का सम्पादन ये आपके दो बड़े महान् कार्य हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के छिपे ग्रन्थ-भण्डार को प्रकाश में लाकर साहित्यिकों और लेखकों के लिए प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करके मातृभाषा की असीम सेवा की है। आपको सभा का 'बौद्धिक केन्द्र' कहा जाता है।

आपने गम्भीर और शास्त्रीय विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जो ऊंची कक्षाओं के छात्रों तथा गवेषणा में लगे हुए विद्वानों के लिए बहुत उपयोगी हैं। आपकी भाषा की विशेषता यह है कि

श्री पं० चन्द्रधर गुलेरी (१८८३–१९२१)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर में एक विख्यात पण्डित घराने में जून सन् १८८३ (२५ आषाढ़ सं० १९४०) को हुआ और परलोक-वास १९२१ में। आप पंजाब के मूल-निवासी थे। आपके पिता पं. शिवराम जी पंजाब के कांगड़ा जिले के गुलेर नामक एक छोटे से रजवाड़े से जयपुर में आ बसे थे। आपके सहोदर श्री पं० जगद्धर जी गुलेरी लायलपुर एग्रीकल्चर कालेज में अध्यापक थे और अभी हाल में ही (पंजाब-विभाजन के बाद) सर्विस से रिटायर हुए हैं।

गुलेरी जी जहां संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे, वहाँ अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा से भी संपन्न थे। आप १८९२ में महाराजा कालेज जयपुर में भरती हुए। १९०३ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम रहकर बी. ए. पास किया। तदुपरान्त आप मेयो कालेज, अजमेर में अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ से आप हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस में ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल बनकर काशी चले गये और अन्त तक वहीं रहे।

गुलेरी जी जैसे धुरंधर विद्वान् थे, वैसे ही सरल और विनोद-शील थे। आपकी लेखन-शैली अद्भुत थी। उसमें पाण्डित्यपूर्ण विवेचन, सूक्ष्म सूझ, अर्थगर्भित व्यंग्य तथा एक प्रकार का शिष्ट परिहास पाया जाता है। आपकी चुटकियों और व्यंगपूर्ण वक्रता का आनन्द बहुज्ञ और बहुश्रुत लोगों को ही मिल सकता है।

जयपुर में आपने 'नागरी भवन' की स्थापना की थी। कई वर्षों तक आप 'समालोचक' के संपादक रहे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने कई वर्ष सम्पादन किया। भाषाविज्ञान, प्राचीन लेख और सिक्कों तथा गवेषणा के सम्बन्ध में आपने अनेक लेख लिखे हैं। आपकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलेरी ग्रन्थ' (प्रथम खण्ड) के नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपकी एक अमर कहानी 'उसने कहा था' बहुत ही सर्वप्रिय हुई है।

श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४१)

शुक्ल जी का जन्म जिला बस्ती के अगौना ग्राम में सन् १८८४ (आश्विन पूर्णिमा सं. १९४१) में हुआ और गोलोकवास २. फ़र्वरी १९४१ को। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा देहात में ही हुई। १९०६ में आपने प्रयाग से वकालत की परीक्षा दी, पर सफल न हुए। कुछ दिन आप मिर्ज़ापुर के एक स्कूल में ड्राइंग मास्टर भी रहे। १९०८ में आप काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सहायक सम्पादक बनकर बनारस चले गये। कोश की समाप्ति पर आप हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस में हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुए और १९३७ में आप वहीं के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बनाये गये। अन्त तक आप वहीं रहे।

आप हिन्दी के अच्छे निबन्ध-लेखक और मार्मिक समालोचक थे। आपके लेखों में सूक्ष्म विवेचन, गम्भीर चिन्तन, विस्तृत अध्ययन तथा तुलनात्मक मीमांसन दृष्टिगोचर होते हैं। भाषा की प्राञ्जलता तथा शैली की सजीवता आपकी खास विशेषताएं हैं। हिन्दी साहित्य को सम्पन्न, प्रौढ़ तथा व्यापक बनाने में आपने विशेष कार्य किया है। आपने प्रायः साहित्यिक आलोचना, इतिहास तथा मनोविकारों के सम्बन्ध में ही लिखा है। आपकी सूर, तुलसी, जायसी, भारतेन्दु आदि की मार्मिक आलोचनाओं ने हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में वैज्ञानिक विवेचन-पद्धति का समावेश करके एक नये ही युग का सूत्रपात किया है।

इसके साथ ही आप अच्छे कवि भी थे। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त आपने 'बुद्ध-चरित' नामक एक ऐतिहासिक महाकाव्य भी लिखा है जो 'लाइट ऑफ़ एशिया' पर आधारित है।

'हिन्दी-शब्द-सागर, तथा ८-९ वर्ष तक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादन के अतिरिक्त आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—'चारण-विनोद' (१९०१), 'राधाकृष्णदास का जीवनचरित्र' (१९१३), 'आदर्शजीवन' (१९१४), 'बुद्ध-चरित' (१९२२), 'तुलसी-ग्रन्थावली' (१९२३),

लाहौर में आपने 'जात-पात-तोड़क मण्डल' की स्थापना की और १६२२ में 'क्रान्ति' (उर्दू) और युगान्तर (हिन्दी) का सम्पादन किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विगत अबोहर के अधिवेशन में आप 'साहित्य परिषद्' के प्रधान थे। आप एकनिष्ठ साहित्यसेवी हैं। अब तक आपकी ४० से ऊपर पुस्तकें और २५० से अधिक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी और उर्दू दोनों पर आपको समान अधिकार प्राप्त है। आप जिस भी विषय पर लिखते हैं, उसमें आपकी लेखनी पूर्ण अबाध गति का परिचय देती है। समाजसुधार, जातपात का उच्छेद, इतिहास, यात्रा, नारी-शिक्षा, शिशु-पालन, जीवन-चरित, संतति-निग्रह, रति-शास्त्र आदि अनेक विषय आपकी साहित्य-क्रीड़ा के क्षेत्र हैं। 'अलबेरूनी का भारत' पर आपको १६१७ तथा १६२६ में १२००) और 'इत्सिंग की भारत यात्रा' पर १६२६ में ६००) के पुरस्कार पंजाब सरकार की ओर से मिल चुके हैं। 'बालक' पर आपको एक स्वर्णपदक भी मिला था।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति (जन्म १८८९)

आपका जन्म सन् १८८६ में हुआ। आप पंजाब के सुप्रसिद्ध नेता और गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक श्री स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्वनाम महात्मा मुन्शीराम) जी के सुपुत्र हैं। आपकी शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में ही हुई, जहां के आप सर्वप्रथम स्नातक हैं।

आप देशसेवक और राजनैतिक कार्यकर्ता हैं। कई बार जेलयात्रा भी कर चुके हैं। कई कांग्रेस कमेटियों के प्रधान तथा मंत्री रह चुके हैं। दलितोद्धार तथा समाजसुधार के कार्यों में भी आप पूरा सहयोग देते हैं।

साथ ही आप सुयोग्य लेखक तथा प्रसिद्ध पत्रकार हैं। 'सद्धर्म-प्रचारक', 'सत्यवादी', 'विजय', 'अर्जुन' आदि कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं। आजकल आप देहली से 'अर्जुन' का सम्पादन कर रहे

हैं। आपके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—'संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन', 'महावीर गैरी बाल्डी', 'पं० जवाहरलाल नेहरू', 'अपराधी कौन ?', 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', 'जमींदार', 'उपनिषदों की भूमिका', 'राष्ट्रों की उन्नति', 'प्रिंस बिस्मार्क', 'जीवन-संग्राम', 'सरला की भाबी', 'आत्मबलिदान', ''शाहआलम की आँखें', 'जीवन की झांकियाँ (३ भाग)', 'महर्षि दयानन्द', 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा'।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (जन्म १८९४)

आपका जन्म रायपुर (मध्यप्रदेश) की खैरागढ़ रियासत में सन् १८९४ में हुआ। आप उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध-लेखक और साहित्य-समालोचक हैं। श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद आप ७-८ वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन करते रहे हैं। आजकल आप प्रयाग की 'छाया' के सम्पादक और खैरागढ़ हाई स्कूल में अध्यापक हैं।

आपके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—'अञ्जलि', 'पञ्चपात्र', 'हिन्दी साहित्य विमर्श', 'विश्वसाहित्य', 'तीर्थरेणु', 'मकर-विन्दु', 'प्रबन्ध पारिजात', 'झलमला', 'कुछ', आदि-आदि।

श्री आचार्य विश्वबन्धु (जन्म १८९६)

आपका जन्म पश्चिमी पंजाब के भेरा नामक स्थान में सन् १८९६ में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय 'कृपाराम एंग्लो संस्कृत हाई स्कूल' में और उच्च शिक्षा लाहौर के डी. ए. वी. कालेज में हुई। आप प्रारम्भ से ही अद्‌भुत प्रतिभाशाली थे। आपका सारा-का-सारा विद्यार्थी-जीवन इस बात का साक्षी है। १९११ में मिडिल में सर्वप्रथम रहे और छात्रवृत्ति ली। १९१३ में एंट्रेंस प्रथम कक्षा में पास की और यूनिवर्सिटी का वज़ीफ़ा लिया। १९१५ में एफ़. ए. भी प्रथम कक्षा में की और सरकारी वज़ीफ़ा लिया। १९१७ में आपने बी. ए.

ए. श्रेणियों) के छात्रों का अध्यापन; वर्तमान में यूनिवर्सिटी के प्रकाशन-विभाग में सम्पादक।

कृतियां—'गुप्तवंश का इतिहास,' 'सूक्ति-स्तबक,' 'प्रस्तावप्रदीपिका,' 'पंजाब में हिन्दी की प्रगति' (नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) अलंकारप्रवेशिका,' 'दृश्यकुसुमाकर,' 'नागरिक शिक्षा' आदि-आदि लगभग १६ पुस्तकें। 'गुप्तवंश के इतिहास' पर १६३३ में पंजाब सरकार से ४००) और 'नागरिक शिक्षा' पर १६४२ में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा ५००) के प्रथम पुरस्कार मिले थे।

श्री आनन्द कुमार (जन्म १९१५)

आप हिन्दी के सुविख्यात साहित्यिक श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी के ज्येष्ठपुत्र हैं और स्वयं हिन्दी के उदीयमान लेखक हैं। आपका जन्म १६१५ में हुआ। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. परीक्षा पास की है। आपके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं 'हिन्दी कविता का विकास', 'समाज और साहित्य', 'आत्मविकास', 'अंगराज महाकाव्य'। इनके अतिरिक्त एक दर्जन के लगभग बालोपयोगी पुस्तकों के भी आप रचयिता हैं। आपके लेख गहरे अध्ययन और मौलिक सूझ की सूचना देते हैं। भाषा शुद्ध और विषयानुकूल होती है।

श्रीमती राजकुमारी बिन्दल (जन्म १९२६)

श्रीमती बिन्दल का जन्म मेरठ शहर में २३ मई सन् १६२६ को हुआ। आपके पिता श्री रघुनाथप्रसाद जी ग़ाज़ियाबाद के प्रसिद्ध एडवोकेट हैं। आपने ग़ाज़ियाबाद के 'कन्या वैदिक हाई स्कूल' से सन् १६४३ में मैट्रिक परीक्षा पास की। अगले ही वर्ष सन् १६४४ में आपका विवाह मेरठ के श्री अमरनाथ जी बिन्दल एम. ए. से सम्पन्न हुआ। श्री अमरनाथ जी भी साहित्यप्रेमी हैं और हिन्दी में एक पुस्तक 'भारतवर्ष में उद्यानकारी' लिख चुके हैं।

श्रीमती विन्दल के लेख झांसी के 'स्वतंत्र' में प्रायः निकलते रहते हैं। 'महिला-समाज का उत्थान' ही प्रायः आपके साहित्य-क्षेत्र का प्रधान विषय है। आपके विचार सुलझे हुए और भाषा सरल परन्तु प्रभावशाली है। आपके लेखों का एक संग्रह 'हमारी समस्याएं' नाम से 'हिन्द किताब्स लिमिटिड्, बंबई' द्वारा प्रकाशित हो चुका है। आपकी एक और पुस्तक 'नारी जीवन चक्र' अभी हाल में ही 'मयूर प्रकाशन, झांसी' द्वारा प्रकाशित हुई है।

एक मध्यवर्गीय गृहस्थी का संचालन करते हुए और लगभग चार बच्चों की माता होते हुए भी श्रीमती विन्दल का यह साहित्य-प्रेम और समाज-सेवा की भावना वस्तुतः सराहनीय है और हमारी अनेक पठित बहनों के लिए—जो गृहस्थ में प्रवेश करते ही लिखना-पढ़ना सब भूल जाती हैं—अनुकरणीय है।

उल्लेखनीय–लिखने के योग्य।
मुआइना–निरीक्षण, परीक्षण।
दरजा–श्रेणी, क्लास।
तैनात–नियुक्त, नियत, मुकर्रर।
कायम–स्थिर।
क़ाज़ी–जज, भले-बुरे की आलोचना करने वाला (शब्दार्थ-कज़ा = मौत का हुक्म देने वाला)।
सबक़–पाठ, शिक्षा।
काँवर–बहँगी, बांस का डंडा जिसके दोनों सिरों पर छिक्के लटकाये हों—जैसी पानी भरने वालों के पास होती है।
धारणा–दृढ़ निश्चय।
ऐतिहासिक–इतिहास का, सच्चा, असल।

(२) हाई स्कूल में

छात्रवृत्तियां–वज़ीफ़े।
सौराष्ट्र–गुजरात-काठियावाड़।
पात्र–अधिकारी, योग्य।
अनुशासन–निग्रह, डिसिप्लिन।
कसरत–व्यायाम।
अनिवार्य–आवश्यक, लाज़मी।
सुलेख–सुन्दर लिखावट।
होड़–बाज़ी, स्पर्द्धा, संघर्ष।
अवहेलना–अनादर, उपेक्षा, लापरवाही।
अध्ययन–पढ़ाई, पढ़ना।
उपर्युक्त–ऊपर कही हुई।
सुलभ–सुगम, आसान।
समावेश–अन्दर आजाना, शामिल होना।

साहित्य की महत्ता

श्री-संपन्नता–समृद्धि।
उत्कर्षापकर्ष–उन्नति और अवनति।
क्षमता–शक्ति।
निष्क्रिय–निकम्मा।
विकार-ग्रस्त–विकृत, जिसमें कोई विकार या दोष आ गया हो।
विसर्जन–छोड़ना, भगा देना।
पोप की प्रभुता...योरुप की १२वीं तथा १६वीं शताब्दी की पुनर्जागृति (रिनायसैंस) के फलस्वरूप, लूथर, कालविन आदि की रचनाओं ने पोप (धर्मगुरु) के महत्व को कम कर दिया था।
फ्रांस में प्रजा की सत्ता...फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक रूसो और डिडरट प्रभृति के ग्रंथों ने १७९० के लग-भग राज्यक्रांति पैदा की थी और वहां प्रजातंत्र शासन की नींव डाली थी।
पादाक्रान्त इटली...मेज़िनी और

गैरिबाल्डी की रचनाओं ने पद-दलित इटली का पुनरुत्थान किया था।
अनैसर्गिक आच्छादन—अस्वाभाविक परदा।
अभिवृद्धि—उन्नति।
कृतघ्नता—किये हुए उपकार को न मानने का पाप।

क्या जानवर भी सोचते हैं ?

स्थिति—हालत, अवस्था।
आघात—प्रहार, आक्रमण।
स्वाभाविक—जन्मसिद्ध, कुदरती।
उपार्जित—स्वयं सोच-समझकर प्राप्त किया हुआ।।
ज्यामिति—ज्यौमेटरी।
स्वतःसंभूत—अपने आप पैदा हुई।
ज्ञानगत—ज्ञान में स्थित।

कर्तव्य और सत्यता

असत्यपरता—झूठ बोलने की आदत।
चाटुकारी—चापलूसी, मिथ्या प्रशंसा।
व्यग्र—व्यस्त रहना, उलझा हुआ।
स्वार्थ-परता—स्वार्थसिद्धि, अपना ही मतलब पूरा करना।
द्विविधा—मन का अस्थिर होना, 'करूं या न करूं' का निर्णय न कर सकना, शङ्का।
कुटिलता—टेढ़ापन, दुष्टता।
कायरता—मानसिक भीरुता।
सम्मान—बड़ाई, इज्जत, आदर।

आकाशगंगा

उद्भट विद्वान्—धुरन्धर विद्वान्, बड़ा पण्डित।
परिधि—सीमा, हद।
विस्तीर्ण—विस्तारयुक्त, बड़ी।
विस्मयकारी—अचरज उत्पन्न करने वाला, विचित्र।
क्षीरायण—दुग्धमार्ग, मिल्की वे।
ईशान से नैर्ऋत्य—पूर्वोत्तर दिशा से दक्षिण-पश्चिम की ओर।
अपरिमित—निःसीम, विशाल।
लुब्धक—लुभानेवाला, (भेड़िया, शिकारी)।
कल्पनातीत—कल्पना से भी परे, अनुमान में भी न आने वाला।
अपरिच्छिन्न—अपरिमित, असीम।
'पादोऽस्य—भूतानि'—सारा भूत-जगत् उसका पाद (चौथाई भाग) है।

हुक्म-उदूली—आज्ञाभङ्ग, हुक्म न मानना।

विज़न-'मारो, काटो' का शाही हुक्म।

क़हर—दारुण अत्याचार, क्रोध, जुल्म।

नाज़िल—अवतरण, ऊपर से आना।

कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः जो 'करने', 'न करने' अथवा 'और तरह से करने' में समर्थ हो, सर्वतंत्रस्वतंत्र', निरंकुश।

हुक्मे-हाकिम, मर्गे-मफ़ाजात—हाकिम का हुक्म अचानक मौत है। राजा की आज्ञा अचानक मृत्युतुल्य होती है।

तर्ज़ हुकूमत—राज्य-प्रणाली।

प्रमाण-पुरःसर—प्रमाणों और युक्तियों सहित।

आदिल—न्यायकारी, अदल, इन्साफ़ करने वाला।

खम—टेढ़ा करके, झुकाकर, मोड़ देकर।

शशी-शुभ्र—चन्द्रमा के समान सफ़ेद।

हिलाक—मर गया।

कीर्तिर्यस्य स जीवति—जिसका यश जीता है, वही जीता है। जीता है वह जिसकी कीर्ति हो।

भेड़ियों द्वारा पाले हुए लड़के

वनैले—वन में रहनेवाले, वन्य, जंगली।

आक्रमण—प्रहार, हमला।

खग—पक्षी।

जियोलोजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया—भारतीय भूगर्भविद्या-सम्बन्धी निरीक्षण विभाग।

कन्दरा—गुफा।

ले-पालक—लेकर पालन-पोषण करनेवाले (दत्तकपुत्र के माता-पिता)।

उद्धरण—उद्धृत सन्दर्भ, निकाला हुआ भाग।

अधिष्ठाता—अधिपति, मुख्य प्रबन्धक।

विवर—छेद, सूराख़, बिल।

कपोलकल्पित—मनगढंत, झूठी।

स्वाधीनता

मरु-स्थल—रेगिस्तान, मरुभूमि।

विवेकशील—विचारवान्, भले-बुरे की पहचान कर सकनेवाला।

पोरे-पोरे—प्रत्येक पोरी में, रोम-रोम में, सर्वत्र।

दैवी-आपत्तियाँ—प्रकृति की ओर से आनेवाली—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि आपत्तियां।

प्रतिबन्ध-हीन—बेरोक-टोक, निर्बन्ध।

विघ्नकारी—रुकावट डालनेवाला।

उच्छृंखलता—उद्दण्डता, धक्काशाही।

मान-मर्दन—घमण्ड तोड़ना।

क्रिया-प्रतिक्रिया—संघर्ष, कृति और विकृति, कर्म और उसका प्रतिरोध।

निष्कर्ष—सार, परिणाम, नतीजा।

विज्ञान

अवलम्बन—आश्रय।

रहस्योद्घाटन—छिपे भेदों को खोलना।

यातना—घोर पीड़ा।

संक्रामक-रोग—छूतदार बीमारियां।

विश्लेषण—अलग-अलग करके देखना।

यातायात—आने-जाने के साधन, रेल, मोटर, जहाज़ आदि।

श्रेयस्कर—कल्याणकारी।

अशरफ़ुल मख़लूकात—सारी सृष्टि से श्रेष्ठ, जगत्वन्द्य।

निम्न-गामिनी—नीचे-अवनति-की ओर जाने वाली।

जाज्वल्यमान—चमकदार, प्रकाशमान।

गुहावासी—गुफ़ा-पहाड़ी कन्दराओं में रहनेवाला।

प्रादुर्भाव—जन्म, प्रारम्भ।

वर्गीकरण—भिन्न-भिन्न वर्गों में बांटना।

पराकाष्ठा—अन्तिम सीमा, हद्द।

मर्यादित—सीमित, मर्यादा के अन्दर, परिच्छिन्न।

समर-क्षेत्र—युद्ध-क्षेत्र।

विचारस्रोत—विचार-प्रवाह, विचारों का बहाव।

विजया की प्रथम प्रतिष्ठा

आवाहन—बुलाना।

अनिष्ट—अप्रिय, हानिकारक।

पर्याप्त—काफ़ी।

रञ्जन—प्रसन्न करना।

मीमांसा—विवेचन, मनन।

दीनों पर प्रेम

अद्वितीय—जिसके बराबर दूसरा न हो, अनुपम, लासानी।

आतिथ्य–अतिथि सत्कार।

चमन–फूलों का बाग़।

दीदार–दर्शन।

भस्मसात्–भस्मीभूत, ख़ाक में मिलाना।

जनि–मत।

मर्मभेदिनी–मर्मस्थलों को तोड़ने वाली, मार देनेवाली।

पर-पीर–दूसरे की पीड़ा।

बे-पीर–निगुरा, बिना पीर (गुरु) के (दुष्ट)।

मनुष्य और समाज

सहज-प्रवृत्ति–स्वाभाविक या प्राकृतिक प्रवृत्ति, जो बिना सिखाये ही मनुष्यों और दूसरे पशुओं में पाई जाती है।

सुसज्जित–अच्छी तरह तैयार।

मुहताज–आश्रित, निर्भर।

सुदृढ़–मज़बूत।

अगाध–अपार, बहुत अधिक।

मिथ्याभ्रम–झूठा वहम।

परिच्छिन्न–सीमित, बहुत थोड़ी।

संकुचित–तंग, छोटा।

महत्ता–बड़ाई, बड़प्पन।

निरपेक्ष–जिसे किसी दूसरे की अपेक्षा न हो।

इतर–दूसरे, अन्य।

अकिञ्चित्कर–कुछ भी न कर सकने योग्य, निकम्मा।

संपर्क–लगाव, सम्बन्ध।

कल–मशीन।

उपादेयता–ग्रहण करने की योग्यता, उपयोगिता।

नगण्य–जिसकी कोई गिनती नहीं।

उपेक्षणीय–उपेक्षा या निरादर के योग्य।

अवहेलना–उपेक्षा, निरादर।

अन्ततोगत्वा–आख़िरकार।

अवलम्बित–निर्भर।

आधारनियम–वे नियम जिन पर नींव खड़ी हो, बुनयादी उसूल।

अदम्य–न दबाया जा सकने वाला।

परहित-साधन–दूसरे का भला करना, परोपकार।

कर्तव्यपरायणता–अपने कर्तव्य-फ़र्ज़–को पूरा करने की आदत।

अभिवर्धन–वृद्धि, बढ़ती, तरक़्क़ी।

सत्ताधारी–जिनके हाथ में रुपये की या राज्य की ताकत हो।

अवैध–नियमविरुद्ध, अनुचित।

रूढ़ियों की शृङ्खला–पुरानी रस्मों की जंजीर या बेड़ी।

मूलमंत्र—असली रहस्य।
निहित—छिपा हुआ।

सञ्चय

अपव्यय=फ़िजूलखर्ची।
श्रमसहिष्णुता—परिश्रम को सहन करने की शक्ति।
उद्योगपरता—परिश्रम करने की आदत।
संचय—धन को बचाकर जमा करना या जोड़ना।
क्षुधा—भूख।
उपवास—फ़ाका, निराहार।
हिफ़ाजत—रक्षा करना।
अतिक्रम—उल्लंघन, लांघना।
निमन्त्रित—बुलाना या न्योता देना।
स्वार्थ-त्याग—स्वार्थ या ख़ुदग़र्ज़ी को छोड़ना।
अनावश्यक—जिसकी कुछ भी आवश्यकता न हो।
तादृश—उसी प्रकार की, उसी हिसाब से।
व्याघात—हानि, प्रहार, ज़ख़्म।
अर्जनशील—कमानेवाला।
कर्तव्यनिष्ठ—अपने कर्तव्य के पालन में दृढ़ रहनेवाला।

विश्राम

क्षति-पूर्ति—हानि या कमी को पूरा करना, कसर पूरी करना।
अवरुद्ध—रुका हुआ।
टॉनिक—पौष्टिक या बलवर्द्धक ओषधि।
मधुर स्मृति—मीठी याद। किसी अच्छी घटना की स्मृति।
निवारण—दूर करना।
व्यवसायी—व्यवसाय या वणिज व्यापार करनेवाले, जिन्हें शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता।
पर्याप्त—काफ़ी।

सास और ननद

पाणिग्रहण—विवाह संस्कार, हाथ पकड़ना।
अविच्छेद्य—अटूट।
परिपाटी—प्रथा, तरीका।
कु-प्रथाएँ—बुरी रस्में।
ह्रास—अवनति, कमी।
अनिवार्य-सा—परम आवश्यक, न रुक सकनेवाला।
समृद्धिपूर्ण—सुख-सम्पत्ति से भरा हुआ।
अभीष्ट—अपेक्षित, मनचाहा।
सामंजस्य—समन्वय।
प्रसार—विस्तार।

आतिथ्य—अतिथि सत्कार।
चमन—फलों का बाग़।
दीदार—दर्शन।
भस्मसात्—भस्मीभूत, ख़ाक में मिलाना।
जनि—मत।
मर्मभेदिनी—मर्मस्थलों को तोड़ने वाली, मार देनेवाली।
पर-पीर—दूसरे की पीड़ा।
बे-पीर—निगुरा, बिना पीर (गुरु) के (दुष्ट)।

मनुष्य और समाज

सहज-प्रवृत्ति—स्वाभाविक या प्राकृतिक प्रवृत्ति, जो बिना सिखाये ही मनुष्यों और दूसरे पशुओं में पाई जाती है।
सुसज्जित—अच्छी तरह तैयार।
मुहताज—आश्रित, निर्भर।
सुदृढ़—मज़बूत।
अगाध—अपार, बहुत अधिक।
मिथ्याभ्रम—झूठा वहम।
परिच्छिन्न—सीमित, बहुत थोड़ी।
संकुचित—तंग, छोटा।
महत्ता—बड़ाई, बड़प्पन।
निरपेक्ष—जिसे किसी दूसरे की अपेक्षा न हो।
इतर—दूसरे, अन्य।
अकिञ्चित्कर—कुछ भी न कर सकने योग्य, निकम्मा।
संपर्क—लगाव, सम्बन्ध।
कल—मशीन।
उपादेयता—ग्रहण करने की योग्यता, उपयोगिता।
नगण्य—जिसकी कोई गिनती नहीं।
उपेक्षणीय—उपेक्षा या निरादर के योग्य।
अवहेलना—उपेक्षा, निरादर।
अन्ततोगत्वा—आख़िरकार।
अवलम्बित—निर्भर।
आधारनियम—वे नियम जिन पर नींव खड़ी हो, बुनयादी उसूल।
अदम्य—न दबाया जा सकने वाला।
परहित-साधन—दूसरे का भला करना, परोपकार।
कर्तव्यपरायणता—अपने कर्तव्य-फ़रज़—को पूरा करने की आदत।
अभिवर्धन—वृद्धि, बढ़ती, तरक़्क़ी।
सत्ताधारी—जिनके हाथ में रुपये की या राज्य की ताक़त हो।
अवैध—नियमविरुद्ध, अनुचित।
रूढ़ियों की शृङ्खला—पुरानी रस्मों की जंजीर या बेड़ी।

मूलमंत्र—असली रहस्य।
निहित—छिपा हुआ।

सञ्चय

अपव्यय=फ़िजूलखर्ची।
श्रमसहिष्णुता—परिश्रम को सहन करने की शक्ति।
उद्योगपरता—परिश्रम करने की आदत।
संचय—धन को बचाकर जमा करना या जोड़ना।
क्षुधा—भूख।
उपवास—फ़ाक़ा, निराहार।
हिफ़ाज़त—रक्षा करना।
अतिक्रम—उल्लंघन, लांघना।
निमन्त्रित—बुलाना या न्योता देना।
स्वार्थ-त्याग—स्वार्थ या ख़ुदग़र्ज़ी को छोड़ना।
अनावश्यक—जिसकी कुछ भी आवश्यकता न हो।
तादृश—उसी प्रकार की, उसी हिसाब से।
व्याघात—हानि, प्रहार, ज़ख़्म।
अर्जनशील—कमानेवाला।
कर्तव्यनिष्ठ—अपने कर्तव्य के पालन में दृढ़ रहनेवाला।

विश्राम

क्षति-पूर्ति—हानि या कमी को पूरा करना, कसर पूरी करना।
अवरुद्ध—रुका हुआ।
टॉनिक—पौष्टिक या बलवर्द्धक औषधि।
मधुर स्मृति—मीठी याद। किसी अच्छी घटना की स्मृति।
निवारण—दूर करना।
व्यवसायी—व्यवसाय या वणिज व्यापार करनेवाले, जिन्हें शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता।
पर्याप्त—काफ़ी।

सास और ननद

पाणिग्रहण—विवाह संस्कार, हाथ पकड़ना।
अविच्छेद्य—अटूट।
परिपाटी—प्रथा, तरीका।
कु-प्रथाएँ—बुरी रस्में।
ह्रास—अवनति, कमी।
अनिवार्य-सा—परम आवश्यक, न रुक सकनेवाला।
समृद्धिपूर्ण—सुख-सम्पत्ति से भरा हुआ।
अभीष्ट—अपेक्षित, मनचाहा।
सामंजस्य—समन्वय।
प्रसार—विस्तार।